

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182336

UNIVERSAL
LIBRARY

UP- 2272-19-11-79-10.000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H81
K 16 m

Accession No.

P.G.H.18

Author

Title

This book should be returned on ~~47~~ before the date last marked below.

महाकवि
घनानन्द

[आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक—

श्री राम वाशिष्ठ एम० ए०

त्रिनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल-रोड, आगरा ।

प्रकाशक—

बिनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

[सर्वाधिकार प्रकाशक के आधीन]

प्रथम संस्करण—१९५५

मूल्य ३॥)

प्रद—

कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुखफरखो, आगरा

आलोचना व निबन्ध

श्रद्धेय

पूज्य पिताजी

को

जिनका स्नेह

ही

मेरी शक्ति

है

आलोचना व निबन्ध

अपनी बात

हमारे साहित्य में ऐसे अनेकों कलाकार हैं जिनकी कला-कृतियों का ठीक तरह से मूल्याङ्कन नहीं हो सका। हिन्दी के आलोचकों की मूल प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने उसी कवि के ऊपर अपनी लेखनी उठाई जिसको विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में ले लिया गया। महाकवि घनानन्द भी इसी तरह के कलाकार हैं। अभी तक उनके काव्य की विशेषताओं को हिंदी के बहुत कम आलोचकों के द्वारा प्रकाशित किया गया। स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी का ध्यान उनकी ओर अवश्य आकर्षित हुआ और उन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस महान कलाकार की विशेषताओं की ओर संकेत भी किया किन्तु वह पर्याप्त नहीं।

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने घनानन्द के विषय में लिखा लेकिन इन दोनों विद्वानों ने भी उनके काव्य पर व्यापक दृष्टि नहीं डाली। इस वर्ष घनानन्द को आगरा विश्वविद्यालय ने एम० ए की परीक्षा के पाठ्य-क्रम में ले लिया है और साथ ही आलोचकों का ध्यान भी उनकी ओर आकर्षित हुआ है। मैं भी दुर्भाग्य से उसी समय इस कार्य में लगा जब कि मुझे यह प्रतीत हो गया कि घनानन्द भी पाठ्यक्रम में ले लिये गये हैं। इसलिए मैं अपनी इस मनोवृत्ति के लिए पाठकों से क्षमा चाहुंगा। फिर भी मैं इस कार्य को इतनी शीघ्र संभवतः नहीं कर पाता यदि परम स्नेही डा० रांगेय राघव जी मुझे प्रेरणा नहीं देते। वह इन दिनों घनानन्द पर एक खण्डकाव्य लिख रहे थे जिसे सुनने का मुझे सौभाग्य मिला और साथ ही मेरे कार्य करने की गति भी बढ़ी। इसलिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

मैं अपने उन मित्रों का भी आभार स्वीकृत करता हूँ जिन्होंने मुझे पुस्तकों के जुटाने में सहायता दी। प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में मुझे निम्नलिखित पुस्तकों की सहायता भी कहीं २ लेनी पड़ी—

विषय-सूची

१—घनानन्द का जीवन-वृत्त १--२७

१—विभिन्न जनश्रुतियाँ	२
२—अन्य विद्वानों की खोज तथा अनुमान	६
३—नाम-निरूपण	१६
४—सुबान और उसके विषय में विभिन्न धारणाएँ	१८
५—सुबान की कविता	२०
६—घनानन्द की शाय्य-कृतियाँ	२४

२—घनानन्द का युग २८--३८

१—कलाकार का युग पर तथा युग का कलाकार पर प्रभाव	२८
२—राजनीतिक परिस्थितियाँ	२९
३—धार्मिक परिस्थितियाँ	३२
४—सामाजिक आस्था	३६
५—साहित्य और कला	३७

३—तात्कालिक साहित्यिक परिस्थितियाँ और उनकी पूर्व-पीठिका ३९--५४

१—साहित्यिक परिस्थितियाँ	३९
२—पूर्व-पीठिका	४१
३—संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य का प्रभाव	४२
४—अलंकार सम्प्रदाय	४५
५—लक्षणा ग्रन्थों का प्रभाव	४६
६—लक्षणा ग्रन्थकार	४८

७—रीति-सम्प्रदाय से प्रभावित	४८
८—स्वतन्त्र कवि	४८
९—रीतिकाल के मुख्य विषय	४८
(अ) नायिका मेद	४८
(ब) नखशिख वर्णन	५१
(स) वाह्य सौन्दर्य की प्रधानता	५३
४—रीतिकाल और घनानन्द	५५-८३
१—रीतिकाल में कृष्ण और राधा का रूप	५५
२—तात्कालिक मुख्य प्रवृत्तियों	५५
३—स्वच्छन्द कवि घनानन्द	५८
(४) शृङ्गार-रस का उदात्त रूप	६०
५—रीतिकालीन कवि	७१
६—रीतिबद्ध कवियों का प्रभाव	७४
७—फारसी काव्य का प्रभाव	८१
५—घनानन्द की शृङ्गार-भावना	८४-१३३
१—शृङ्गार रस की महत्ता	८४
२—काव्य-गत सौन्दर्य	८५
३—शृङ्गार रस की परम्परा	८६
४—घनानन्द का संयोग शृङ्गार	९३
५—वियोग वर्णन	१०५
६—वियोग का महत्व	१०६
७—घनानन्द का वियोग-वर्णन	११०
८—वियोग में संयोगावस्था की स्मृति	१११
९—मानसिक अवस्थाओं की अनेक रूपता	११३
१०—वियोगजन्य अवस्थायें	१२१
११—विदेशी प्रभाव	१३०

६—घनानन्द का काव्य-सौष्टव

१३४--१८३

१—काव्य का स्वरूप	१२४
२—भाव और उनका प्रसार	१३५
३—कला-पद्म का महत्व	१३७
४—घनानन्द के काव्य का भावोत्कर्ष	१४०
५—वियोग-पद्म का भाव-सौन्दर्य	१४६
६—कला-पद्म के विभिन्न उपकरण	१५५
७—कला का समन्वित रूप	१५६
८—कला-पद्म और उसके विभिन्न उपकरणों का प्रयोग	१६०
अ—अलंकार	१६०
ब—वाग्वैदग्ध्य	१७२
स—उक्ति-वैचित्र्य	१७५
द—मुहाविरे और लोकोक्ति	१७७
न—अमूर्त में मूर्तीकरण	१७९
प—भाषा और छन्द	१८१

७—प्रकृति-चित्रण

१८४--२०५

१—प्रकृति और मानव का साहचर्य	१८४
२—हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण	१८७
३—घनानन्द के काव्य में प्रकृति	१९०
४—प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप	१९१
५—संयोग में उद्दीपनकारी रूप	१९२
६—विरह में उद्दीपनकारी रूप	१९७
७—अलंकारिक रूप	२०१
८—प्रकृति का स्वतंत्र रूप	२०४
९—प्रकृति का संदेश-वाहक रूप	२०५

८—प्रेमतत्व का निरूपण

२०६-२१८

१—प्रेम की व्यापकता	२०६
२—प्रेम का स्वरूप	२०७
३—साहित्य में प्रेम के विभिन्न रूप	२०८
४—घनानन्द का शुद्ध प्रेम	२११
५—रीतिकालीन कवियों का प्रेम	२१३

९—घनानन्द की भक्ति एवं सम्प्रदाय

२१९-२४३

१—विभिन्न मत	२१६
(२)—भक्त कवियों की विशेषता	२२३
३—वैष्णव धर्मावलम्बियों की भक्ति के प्रकार	२२४
४—घनानन्द पर अन्य प्रभाव	२२६
५—सूफीमत और घनानन्द	२२७
६—निर्गुण सन्तों का प्रभाव	२३१
७—वैष्णव प्रभाव	२३४
८—राधा का रीतिकालीन रूप	२३६
९—कृष्ण-भक्तों का प्रभाव	२३८

१०—स्वच्छन्द प्रेम धारा के कवियों में घनानन्द
का स्थान

२४४-२५६

१—स्वच्छन्द कवियों की प्रेरणा का स्रोत	२४४
२—स्वच्छन्द कवियों का अनन्य प्रेम	२४६
३—बोधा कवि पर अन्य प्रभाव	२५२
४—ठाकुर कवि की विशेषता	२५३
५—घनानन्द का स्थान	२५५

महाकवि घनानन्द का प्रादुर्भाव भी इसी प्रकार अपने युग की परिस्थितियों के अनुकूल ही हुआ। किन्तु वह स्वतंत्र चेता भी थे इसलिये उन्होंने उस युग के दोषों के समुख सीना अड़ाकर उनका सामना किया और काव्यधारा को नवीन मार्ग की ओर उन्मुख करके अपना स्थान स्वतंत्र कवियों में रखा। इसलिये घनानन्द के काव्य पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उनके युग की उन परिस्थितियों को देखें जिन्होंने उस काल के कवियों को प्रभावित किया और घनानन्द पर भी कुछ प्रभाव पड़ा।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—घनानन्द का रचना काल १८ वीं शताब्दी है। उस समय मुगल साम्राज्य अपना पूर्ण विकास करके अवनति की ओर जाने लगा था। इससे पूर्व जहाँगीर और उसका पुत्र शाहजहाँ विलासिता और शान-शौकत के साथ उत्तर भारत ही नहीं बल्कि दक्षिण भारत के बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों तक अपनी धाक फैला चुके थे। हिन्दू राजा उनकी वीरता का लोहा मान चुके थे। राणा प्रताप जैसे वीरों का भारत बमुन्धरा पर अभाव हो चुका था। एक मानसिंह नहीं अब अनेकों मानसिंह दामता को ही गौरव समझने लगे थे। भामाशाह जैसे पूँजीपति भी अब विलीन हो चुके थे। मुगल दरबार की धाक साग्न समुद्र पार तक व्याप्त हो चुकी थी। संसार में मुगल बादशाह की समानता करने वाला अन्य कोई भी बादशाह नहीं था। मुगल साम्राज्यकी सीमायें उत्तर में कन्धारस आगे तक दक्षिण में बीजापुर गोलकुण्डा तक, पश्चिम में विलोचिस्तान और सिन्ध तक तथा पूर्व में बंगाल तक फैली हुई थी। शाही खज़ाना अपार धन से भरा हुआ था। शासक लोग मदान्ध हो रहे थे। विलासिता का रंग भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ने मुक्त हस्त से प्रजा की सम्पत्ति को अपनी शान और विलासिता के ऊपर खर्च किया। उस विलासिता के कारण बादशाह राजनीति से दूर पड़ गया और उसके सूबेदार उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगे। शाहजहाँ के जीवन काल में ही उसके पुत्रों की राज्य लिप्ता ने पारस्परिक युद्ध प्रारम्भ करा दिया और उसका निरंकुश और कठोर हृदय पुत्र और-गज़ेब अपने भाइयों को स्वर्गधाम पहुँचा कर तथा अपने पिता को बन्दी बनाकर सिंहासनासीन हो गया।

औरंगजेब कहर मुसलमान था। उसका राज्यकाल सं० १७१५ से १७६४ तक रहा। उसने हिन्दुओं को अपना व्यक्तिगत शत्रु समझा और साथ ही इस्लाम धर्म का भी। इसलिये उसने अपने पूर्वज अकबर की नीति को ठुकरा कर हिन्दुओं पर अत्याचार प्रारम्भ कर दिये। उनके धार्मिक स्थानों को नष्ट भ्रष्ट करना प्रारम्भ किया। जो जनता अकबर की कूटनीति के कारण शान्त होकर दिल्ली के बादशाह को ही अपना बादशाह मानने लगी थी और वह भ्रम जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल तक उस पर छाया रहा था औरंगजेब के अत्याचारों से फुटकार उठी। किन्तु शासक की कठोरता और शक्ति का मुकामिला करने के लिये वह काफी समय तक अपनी शक्ति का संचय करने में लगी रही। अन्त में वह समय भी आया जब औरंगजेब के विरुद्ध उपद्रव होने लगे। उत्तरी भारत में अनेकों स्थान पर विद्रोह की आग भड़की किन्तु औरंगजेब ने उसे और अधिक कठोरता के साथ दबाने का प्रयत्न किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि औरंगजेब स्वयं एक वीर और सशक्त बादशाह था इसलिये उपद्रवों को दबाने में वह सफलता ही पाता रहा। किन्तु फिर भी उसके अत्याचारों के विरोध में देश में कहीं न कहीं उपद्रव और विद्रोह अवश्य होते। औरंगजेब भी अधिक क्रोध के साथ निरीह जनता को तलवारों के घाट उतारता। उसने हिन्दुओं के मन्दिरों को तुड़वाया, मथुरा के प्रसिद्ध मन्दिर के स्थान पर मसजिद बनवाई, इसके अतिरिक्त और भी ऐसे कार्य किये जिनसे हिन्दुओं में उसके प्रति भयङ्कर घृणा उत्पन्न हुई।

औरंगजेब के अत्याचारों के विरुद्ध हिन्दुओं में अपने धर्म और स्वाभिमान की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया। राजपूताने के अनेकों राजा जो मुगल सिंहासन के प्रति अपनी भक्ति रखते थे, और उनके पूर्वज अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में अपनी तलवार लेकर मुगल साम्राज्य की रक्षा में तत्पर रहते थे, औरंगजेब के साम्राज्य की जड़ खोदने में लग गये।

प्रभाव के सिखों ने एक संगठित सैन्य शक्ति बना कर अत्याचारों के विरोध में लड़ना प्रारम्भ कर दिया। उनके गुरु तेगबहादुर और गोविन्दसिंह आदीबन मुगलों के विरुद्ध लड़ते रहे। सिखों की संगठित शक्ति को देखकर औरंगजेब की असहिष्णुता और भी अधिक बढ़ी उसने कठोरता के साथ

सिखों का दमन प्रारम्भ किया। फल यह निकला कि सिखों में विरोध भी तीव्र हुआ।

दक्षिण में शिवाजी ने मराठों की सेना बनाकर गुरिल्ला युद्ध प्रारम्भ कर दिया। औरंगजेब को स्वयं दक्षिण में रहना पड़ा किन्तु वह जीवन भर मराठों को न दबा सका। उधर बुँदेलखण्ड में चम्पतराय और उसके पुत्र छत्रसाल ने भी दिल्ली के सिंहासन के विरुद्ध अपनी तलवार को उठाया।

इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में एक जातीय स्वाभिमान की लहर व्याप्त हुई। औरंगजेब जीवन भर इन विद्रोहों को दबाने का प्रयत्न करता रहा। वह एक ओर दबाने का प्रयत्न करता था तो दूसरी ओर से उसको चुनौती दी जाती। परिणाम स्वरूप साम्राज्य की जड़ें खोखली होने लगीं जिनको बादशाह डीक करने में असफल होने लगा और अन्त में वह इन्हीं कठिनाइयों में ही इस संसार से चल दिया।

मुग़लों ने अपने विशाल साम्राज्य को सूबेदारों और सामन्तों के ऊपर छोड़ रखा था। औरंगजेब के कठोर व्यक्तित्व के कारण वे लोग दबे रहे। किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त उनमें स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता का प्राधान्य हुआ और धीरे-धीरे उन्होंने अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया। जागीरदारी की इस प्रथा के कारण जनता शोषण से पिस रही थी। किसानों की दशा अत्यन्त ही बिगड़ चुकी थी और वे खेती छोड़ कर मजदूरी करने को अच्छा समझते थे। जब शरीबी के कारण किसान लगान नहीं देते थे तो उनको गुलाम के रूप में बेच दिया जाता था।

औरंगजेब के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में प्रबन्ध की क्षमता न होने के कारण वह अमीर और उमरावों की उँगली के इशारे पर नाचने लगे, उनमें अकर्मक्ष्यता ने घर कर लिया था। विलासिता का दौर भी दिन प्रतिदिन अपनी वृद्धि पर था। महलों में अनेकों बेगमों और उनके प्रेमियों को लेकर विद्वेष की आग भड़कती-रहती थी। बादशाह स्वयं विलास में लीन रह कर इन बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे अमीर लोगों का चिन्ता इतना कम रहा था कि बादशाह का अस्तित्व उनकी कृपा पर ही निर्भर था। इन कमबोरियों के कारण साम्राज्य में उपद्रवों का बढ़ना प्रारम्भ हुआ। भरतपुर के बाट,

ये । किन्तु आगे चलकर समाज की अमिरुचि ने उन सम्प्रदायों को भी अपनी विचारधारा के अनुकूल ही बना लिया । धीरे २ धर्म की आड़ में विलासिता और कामान्विता का प्रसार होने लगा जो इतना बढ़ा कि मन्दिरों में देवदासी के रूप में अनेकों स्त्रियों को स्थान मिलने लगा । इस प्रकार धर्म एक चोगा मात्र था जिसे धारण करके कैसा भी कार्य किया जा सकता था । मन्दिरों में नृत्य और संगीत की लहरियों पर भी भक्तों को अधिक आनन्द आने लगा इसलिये नृत्य और संगीत को भी भक्ति के अन्तर्गत ही रख दिया गया । भक्ति की इस शृंगार परकता के कारण समाज का नैतिक पतन तो हुआ ही किन्तु साथ ही यह भी हुआ कि विलासी से विलासी पुरुष भी अपने को सरलता पूर्वक भक्त की कोटि में समझने लगा । इस प्रकार भक्ति जिसको अत्यन्त ही कठिन समझा जाता था वह एक साधारण बात होगई । किन्तु वैष्णव धर्म में जाति-भेद के बन्धनों और छूआछूत के विचारों को जटिल रूप ही दिया । इसलिये निम्नवर्ग के अछूत और अन्य जाति के लोगों के लिए वैष्णव धर्म की किसी भी शाखा ने स्थान नहीं दिया । उनके प्रति घृणा की भावना ही विद्यमान थी । यही कारण था कि निम्न जातियों के लोग नानक, दादू आदि पन्थों की शरण लेते थे अथवा अन्य देवी, देवताओं, पीर, पैगम्बर और औलिया आदि को ही अपनी भक्ति भावना का केन्द्र बनाकर पूज्य मान लेते थे । निम्न जाति के लोगों में भी अनेकों अन्ध विश्वास घर किये हुए थे । जनता में अनेकों मेले आदि प्रचलित थे ।

हिन्दुओं के समान ही मुसलमानों में भी बाह्याचार और ढोंग घर किये हुये थे । बहुत से पीरों को मान्यता दे दी गई थी । साधारण कोटि के मुसलमान अधिक अशिक्षित होने के कारण फकीरों और पीरों की क़त्तों पर चढ़ने और दीपल जलाने को ही मज़हब की मान्यता देने लगे थे ।

इस प्रकार यदि १७ वीं और १८ वीं श. बी की धार्मिकता को देखा जाय तो वह एक खोखलापन लिये हुये थी । जिन उद्देश्यों को लेकर वैष्णव आचार्यों ने भक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया था और सूरदास अथवा नन्ददास आदि अष्टछाप के भक्तों ने जिसे जनता के लिये सुलभ कर दिया था, जिस भक्ति में आत्मा की विभोरता और हृदय की तन्मयता थी, कृष्ण के लोक

रत्नक और लोक रंजक रूप का दिग्दर्शन था, वह भक्ति अब पूर्णतः लोप हो गई और उसके स्थान पर केवल ऐन्द्रिकता और विलासिता की भावनाओं की पुष्टि को ही भक्ति का रूप दे दिया गया।

गोस्वामीजी के राम का रूप अवश्य आदर्श को लिये हुये ही रहा किन्तु राम की भक्ति कृष्ण के इस विलासी रूप के सम्मुख कुछ ही लोगों के लिये रह गई। रामचरित मानस का पाठ अवश्य कुछ धर्मप्राण लोगों के यहाँ कभी-कभी हो जाता था अन्यथा सम्पूर्ण धार्मिक वातावरण शृंगार की आड़ में नायिकाओं के भेद-प्रभेद से भर गया। राधा को अनेकों नायिकाओं के रूप में देखा गया। कृष्ण को राधा के साथ केलि-कराकग ही इन भक्तों की भक्ति का महत्व रहता था। जिस मर्यादा के लिये गोस्वामीजी इतने सतर्क थे वही मर्यादा अब इन भक्तों के सम्मुख कातर होकर भाग गई थी। सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति के शृंगार परक रूप को अपना लिया गया था।

उपर्युक्त धाराओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भक्त थे जो किसी भी सम्प्रदाय और मत विशेष के नियमों को न मानकर बड़े प्रेम और विश्वास के साथ ईश्वर के प्रति अपनी अनन्य भक्ति को प्रदर्शित करते थे। इस प्रकारके कवियों में सरसता और शृंगार प्रियता तो अवश्य थी किन्तु आत्मलीनता और प्रेम विभोरता के कारण रीतिकालीन भक्तों में इनका नाम अधिक आदर के साथ लिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरी-मत की प्रेम की पीर भारतीय भक्ति और उपासना में घर कर चुकी थी और इन भक्त कवियों ने भी प्रेम की पीर को अपनाया। रसवान इसी प्रकार के कृष्णभक्त थे जो केवल कृष्ण की रूप माधुरी पर आकर्षित होकर ब्रज की पवित्र भूमि पर ही जीवन-पर्यन्त लोटते रहे। इसी प्रकार के भक्त कवियों में महाकवि वनानन्दजी भी थे उन्होंने भी अपने लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक रूप देकर उस समय के किलासी-समाज को चुनौती दी थी। प्रेम की पीर से अत्यधिक प्रभावित भक्त कवि नागरीदासजी थे जो जीवन पर्यन्त राजकुल को छोड़कर वृन्दावन में ही ईश्वर भजन में अपना समय व्यतीत करते रहे। इस प्रकार उस शृंगारिक मनोवृत्ति के काल में शृंगार परक भक्ति के भी दो रूप थे—एक अश्लील शृंगारिकता को प्रदर्शित करने के लिये ही राधा और कृष्ण के पवित्र नामों को,

पुकारते थे और दूसरे वह जिनकी भक्ति उनकी आत्मा की पुकार थी। लेकिन बहुमत उन्होंने लोगों का था जो भक्ति की आड़ में अपनी कुत्सित विचारधाराओं की तृप्ति करते थे।

सामाजिक अवस्था—घनानन्द के युग की सामाजिक अवस्था भी धार्मिक और राजनीतिक अवस्थाओं से भिन्न नहीं हो सकती थी। राजनीतिक अवस्था का चित्रण करते समय वहाँ पर समाज के निर्धन होने की चर्चा हो चुकी है और यह भी कह चुके हैं कि समाज में केवल दो वर्ग थे—शासक और शासित। विलासिता और शीकीनी भी उस समय अपनी चरम सीमा पर थी। साधारण लोग तो बेचारे रोटियों के लिये तड़पते थे और बादशाह एवं उनके चादुकार इत्र में और गुलाब में स्नान करते थे। उनके महलों को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो इन्द्र की अलकापुरी के महल ही पृथ्वी पर उपस्थित कर दिये गये हों। गर्मी के दिनों में राजाओं के तहखानों में सर्दियों का अनुभव होने लगता था। जरी और सोने-चाँदी और जवाहिरात के कपड़ों को पहिनकर जिस समय मुगल बादशाह और उसके दरबारी लोग दरबार में उपस्थित होते थे तो दर्शकों की आँखें चकाचौंध में हो जाती थीं। सहस्रों सुन्दरियों के कण्ठों से अन्तःपुर में संगीत की गूँज प्रवाहित होती रहती थी। मदिरा के दौर में सम्पूर्ण राज महल विभोर होते रहते थे। इन विलासी राजाओं और जागीरदारों की दुस्चरित्रता के कारण समाज में आतंक छाया रहता था। हिन्दुओं में लड़कियों के विवाह पालने में ही होने लगे थे क्योंकि उनको शासक वर्ग की कामान्धता का भय था। परदे की प्रथा अत्यन्त कठोर रूप में थी। उस समय के पतनोन्मुख समाज की अवस्था का चित्रण डा० ईश्वरीप्रसाद ने इस प्रकार किया है—“मुगल पदाधिकारी तथा उच्च वर्गीय सामन्त आचरण भ्रष्ट हो रहे थे। मदिरा पीने के कारण उनका नैतिक पतन हो गया था। उनकी सन्तान निकम्मी और अकर्मण्य थी। उनका समय नर्तकों, हिजड़ों, मसखरों आदि के साथ मनोविनोद करने में व्यतीत होता था। शूरवीरों की कमी थी। मुगल-सेनापति एवं सैनिक विलास प्रिय हो गये थे। बिना मुहूर्त देखे वे कोई भी काम नहीं करते थे। ज्योतिषियों की पूछ समाज में बहुत थी। समाज में और भी अनेक प्रकार के दोष आ गये थे। नैतिक पतन के कारण राजकर्मचारी घूस

लेने लग गये थे । किन्तु साधारण जनता का चरित्र इन दरबारियों की अपेक्षा अच्छा था ।”

साहित्य और कला—समाज की मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब ही साहित्य पर पड़ता है । जिस प्रकार का समाज होगा उसी प्रकार का साहित्य भी । इस पतनोन्मुखकाल के साहित्य पर समाज की जर्जरित अवस्था की प्रतिच्छाया पूर्ण-रूपेण पड़ी थी । औरंगजेब साहित्य और कला का शत्रु था । उसके पूर्वज अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय में साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी । उनके समय में महान कवि, संगीतज्ञ तथा निबन्धकार आदि पैदा हुये थे । उन बादशाहों ने कलाकारों का उचित आदर किया था और उसका परिणाम यह हुआ कि जनता भी साहित्य और कला की ओर अपनी अभिरुचि रखती थी । किन्तु औरंगजेब ने कला को दफन करवा दिया । दिल्ली के अनेकों कलाकारों की रोजी चली गई और उनको जान बचाकर दिल्ली से इधर-उधर भागना पड़ा । कवि लोग मामन्तों और जागीरदारों के यहाँ उनका मनोविनोद करने लगे । उनके आश्रयदाताओं में विलासिता ही अधिक मात्रा में थी इस कारण कवि लोग भी उनकी मनोवृत्तियों के अनुकूल ही विभिन्न नायिकाओं और उनके अंग-प्रत्यंग का वर्णन करने में लग गये । जो कवि अपनी कविता से जितनी अधिक कामुकता और ऐन्द्रिकता का रूप प्रस्तुत कर सकता था वह उतना ही सफल कवि माना जाता था । इसलिये काव्य भी भक्ति के समान वाह्य चित्रण और सजावट को लेकर ही चल रहा था । धीरे-धीरे यह वाह्य-सजावट और चमत्कार कविता में इतना बढ़ा कि नायिका अपनी साँसों के उतार-चढ़ाव के साथ छै-छै सात-सात हाथ आगे-पीछे आकर झूलने के से भोंटे लेने लगी । विरहिणी के आँसू छाती पर गिरकर छन-छन की आवाज करने लगे । कवियों ने नायिका के हृदय का पत्थर के कोयले की भट्टी बना दिया । राधा और कृष्ण को साधारण नायिका और नायकका रूप देकर उनको मुक्त रूप से विलास में रत करा दिया । परिणाम यह हुआ कि कभी यह रीतिकालीन राधा कृष्णभित्तारिका नायिका बनकर अपने नायक (कृष्ण) से मिलने जाती और कभी शुक्लाभित्तारिका के रूप में । उसके अंग-अंग को इन रसिक कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के समुख मुक्त रूप से वर्णित किया ।

इस प्रकार इन कवियों ने उस काल की मनोवृत्ति को और भी दूषित किया ।

कुछ साहित्यकार ऐसे भी थे जिन्होंने आश्रयदाताओं की चाटुकारी न करके समाज और देश की चिन्ता भी की जिनमें लाल, सूदन और भूषण का नाम उल्लेखनीय है ।

कृष्ण प्रेमी कवियों में रसखान, घनानन्द ठाकुर, बोधा आदि कवियों ने भी उस काल के सन्मुख खड़े होकर अपनी स्वतन्त्र मनोवृत्ति का परिचय दिया । स्थापत्यकला और मूर्तिकला भी अपनी चरम सीमा पर थी । आगरे का ताजमहल, और राजपूताने में कई राजाओं के सुन्दर महलों का निर्माण भी इस काल की कला-प्रियता और साथ ही शान-शौकत का परिचय देने को पर्याप्त हैं । औरंगजेब के उत्तराधिकारियों ने उसके पश्चात् फिर कला को अपनाया और यहाँ तक अपनाया कि तलवार को सदा के लिये टाँगकर संगीत और नृत्य में भूमते-भूमते अपने को विलासिता के ऊपर ही बलिदान कर दिया ।

तात्कालिक साहित्यिक परिस्थितियाँ

और

उनकी पूर्व-पीठिका

साहित्यिक परिस्थितियाँ—काव्य की धारा अबाधगति से एक लम्बे समय से चली आ रही है। उस पर कभी भी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। प्राचीन कवियों के काव्य में कोई ऐसी निश्चित परिपाटी नहीं थी जिसे अपनाकर ही कवि लोग अपने को सफल कवि बना सकते थे। बाल्मीकि और कालिदास काव्य को किसी संकुचित घेरे में बाँधने के पक्ष में नहीं रहे। उन्होंने अपने हृदय को मुक्त रूप से जन-समाज के सम्मुख रखा।

हिन्दी के भक्त कवियों में भी अपने हृदय की अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता के साथ ही हुई। सुर, तुलसी, मीरा आदि जितने भी भक्त कवि थे वे सब अपनी कला को स्वच्छन्दता के साथ ही व्यक्त करते थे। किसी भी सम्प्रदाय विशेष का इन पर प्रभाव नहीं था। लेकिन १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्कृत साहित्य के सम्प्रदायों के आधार पर हिन्दी काव्य में भी अनेक परिपाटियाँ और सिद्धान्त बना दिये गये। कोई भी कवि उनका विरोध करके नहीं जा सकता था। काव्यशास्त्र के नियम उपनियमों के चिट्टे बन गये और उन पर चलना कवियों के लिये आवश्यक हो गया।

कृपाराम, केशवदास, चिन्तामणि आदि कवि आचार्य के पद पर आसीन हो गये। उन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना की। नायिका भेद, नखशिख वर्णन, अलंकारशास्त्र और श्रुत वर्णन आदि की परम्परा चल पड़ी। डा० नगेन्द्र ने इस काल के ग्रन्थों के विषय में रामचन्द्र शुक्ल के मत को ही अपनी भाषा में इस प्रकार रखा है—‘जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीति ग्रन्थ कहते हैं। और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीतिशास्त्र कहते हैं (रीति काव्य की भूमिका पृष्ठ १२६)।

हिन्दी काव्यधारा रीति के बन्धनों में जकड़कर राजाओं और नवाबों के दरबारों में ही सीमित रह गई। जनता से उसका संपर्क नाम मात्र को भी नहीं रहा। कामुकता और विलासिता का साम्राज्य छा रहा था इसलिए कवियों ने अपने स्वाभिमान को खोकर अपने आपको उन राजाओं और सामंतों की कुरुचि का शिकार बनाया। इस प्रकार रीति कविता की प्रेरणा राजा सामंत और नवाब लोग ही थे। दिल्ली के शासक अपनी विलासिता में मदमत्त थे और उन्हीं के अनुकरण पर राजा और सामंत भी अपनी वासनाओं के गुलाम होकर नैतिकतर से गिर चुके थे। कुछ राजनीतिक वातावरण भी ऐसा था कि अब युद्ध की ओर किसी की उतनी रुचि नहीं थी और न अब भगवान की उपासना में ही किसी का ध्यान लगता था। अब तो मुराही प्याला और सुन्दरी की ही चर्चा चारों ओर हो रही थी। रूप सौन्दर्य ही कवियों का विषय रह गया था। शृंगार रस की सरिता में काव्य निमज्जित और निमग्न हो रहा था। कवियों का और सौंदर्य का सम्बन्ध आदि काल से है वरन् कहना चाहिये कि सौन्दर्य के व्यापक रूप को लेकर ही कवि और कलाकार अपने को सफल बना सकते हैं। रीतिकालीन कवि भी सौन्दर्य के ही पुजारी थे। लेकिन सौंदर्य भी स्त्री के अंगों में ही संकुचित रह गया। कालिदास और भवभूति के समान रीतिकालीन कवियों की दृष्टि व्यापक सौन्दर्य की ओर नहीं गई। यदि कहीं उनको सौंदर्य दिखलाई देता था वह नायिका के अंग प्रत्यंगों में ही। प्राकृतिक सौंदर्य भी अब नायिकाओं के अंगों की समानता में हेय समझा जाने लगा था। प्रत्येक कवि अंगों का नख से शिख तक वर्णन करना आवश्यक कार्य समझता था। अनेक प्रकार की नायिकाओं को लक्षणों में महत्व दिया गया। परिणाम यह हुआ कि बाह्य सौंदर्य की ओर ही कवियों का ध्यान अधिक रहा। आन्तरिक सौंदर्य की पिपासा, जो कि कवि को उत्कर्ष और विकास की सीढ़ियों पर चढ़ाती है देखने को नहीं मिलती। कविता को पिंगल के लक्षणों में बाँध दिया गया। छन्द और मात्राओं की ओर कवियों का ध्यान अधिक रहा भावों की ओर से वे उदासीन हो गये। मुख्य छन्द सवैया, कवित्त दोहा थे।

आध्यात्मिक प्रेम अथवा अलौकिक प्रेम का स्थान वासनाजन्य प्रेम ही ले

चुका था । राधा और कृष्ण की पवित्रता को छिन्न भिन्न कर दिया गया और काव्य में उनका स्थान यौवन की उमंगों में चूर कामुक नायक और नायिकाओं को दे दिया गया । उनके स्थूल और वासना जन्य प्रेम का चित्रण ही कवियों का परम कर्तव्य समझा जाने लगा ।

पूर्व पीठिका—रीतिकाल की मुख्य धारा शृंगार भावना थी । अन्य रसों का नाम मात्र को यदि कहीं पर वर्णन मिल गया तो दूसरी बात है । किन्तु क्या यह शृंगार भावना कहीं से उसी समय अचानक आ गई थी या किसी क्रमिक विकास के द्वारा आई थी ? साहित्य में कोई भी विचारधारा कभी बिना क्रम के नहीं आ सकती । यह परम्पराओं के द्वारा अनेक उत्थान और पतन के रूपों से गुजर कर ही अग्रसर होती है । जिसमें शृंगार की भावना का उदय मानव सभ्यता और विकास के प्रथम चरण में ही हो गया होगा । सृष्टि के सृजन के साथ ही शृंगार भावना का उदय स्वाभाविक था । स्त्री-पुरुष का आकर्षण ही सृष्टि सृजन का कारण है और उसी आकर्षण से सौन्दर्य का जन्म हुआ है । जिस वस्तु के प्रति मन का आकर्षण हो उसी वस्तु में मानव सौन्दर्य-बोध के तत्व को खोजने लगता है । मानव का प्राकृतिक स्वभाव कि वह स्त्री की ओर आकर्षित हो । यह सत्य है कि प्रारम्भ से ही वह उसकी काम पिपासा का केन्द्र थी और उस समय मानव केवल उसकी ओर इसी आकर्षण को लेकर चला । किन्तु जैसे २ उसकी बुद्धि का विकास हुआ तो उसने नारी के उन रूपों को देखा जिनसे वह सृष्टि के विकास में सहयोग देती है । वह अनेक कष्टों को सहन करके शिशु की सेवा में रत रहती है । स्त्री रूप से वह अपने शारीरिक सौन्दर्य के द्वारा मनुष्य को आकर्षित करती है । माँ के रूप में उसके हृदय का सौन्दर्य समस्त संसार में बिखरा पड़ा है । इस प्रकार स्त्री के दोनों रूप सृष्टि के आदि काल से ही मोहक और आकर्षक रहे । वह कवि की प्रेरणा का केन्द्र आदि काल से ही बन चुकी थी ।

संस्कृत के आदि कवि बाल्मीकि ने स्त्री के वाच्य सौन्दर्य और आन्तरिक सौन्दर्य दोनों का ही समावेश अपने काव्य में किया । इसी प्रकार महाभारत में कुन्ती और द्रौपदी दोनों को पुरुष के आकर्षण का कारण भी रखा है और साथ ही उनका अपने पति और पुत्र के साथ जो हृदय का व्यापक सम्बन्ध था

उसको भी लिया है। कालिदास के मेघदूत में भी कवि ने यक्षिणी के रूप-सौन्दर्य के साथ उसके हृदय-गत सौन्दर्य को भी देखा है। एक नहीं संस्कृत के अनेक कवियों ने अपनी शृंगार भावना को परिपुष्ट करने के लिये नारी को ही अपने काव्य-ग्रंथों में रखा। किन्तु सबसे बड़ी बात उन कवियों के ग्रन्थों में यही थी कि उन्होंने नायिका के वाह्य-सौन्दर्य के साथ उस आन्तरिक सौन्दर्य को भी देखा जो उसके हृदय में संचित रहता है। किस प्रकार वह अपने पति पुत्र तथा अन्य लोगों के दुःख सुख में सहायक होती है। किस प्रकार अपने त्याग और कर्तव्य के द्वारा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान कर देती है। उन्हीं के मूल कारणों से स्त्री पुरुष के हृदय में स्थान पाती रही। किन्तु संस्कृत साहित्य के उत्तर काल में आकर नारी के वाह्य-सौन्दर्य की ओर ही कवियों का आकर्षण अधिक रह गया। इसका मूल कारण उस समय के समाज का रुचि परिवर्तन ही कहा जा सकता है। सामंतीय व्यवस्था में स्त्री के लाल मनोप्य के विलास का कारण रह गई। उसके अंगों के सौन्दर्य को ही कवियों ने अधिक देखा। उसके हाव-भाव और मुद्राओं की ओर ही कवियों ने अधिक ध्यान दिया।

संस्कृत एवं प्राकृत साहित्यका प्रभाव—हिन्दी काव्य की शृंगार भावना का मूल स्रोत संस्कृत और प्राकृत के काव्यों में ही मिलता है। प्रथम शताब्दी की रचना गाथा सप्तशती है उसमें राधा को कृष्ण के द्वारा चुम्बित करने की चर्चा इस प्रकार है—

मुहमारुपणतं कह गोरअं राहिआयें अवरोतो ।

एताणं बलवीणं अगणाणं वि गोरअं हरिस ॥

इसके अतिरिक्त बाणकी कादंबरी, शृंगार शतक, आर्या-सप्तशती, अमरक शतक, जयदेव का गीत गोविन्द आदि में शृंगार भावना के ही दर्शन होते हैं। विद्यापति के काव्य में संस्कृत की शृंगार पूर्ण भावराशि का ही संचय है।

संस्कृत से हिन्दी में आकर शृंगार की भावना दो पहलू लेकर चल पड़ी। एक आध्यात्मिक थी और द्वितीय लौकिक। भक्ति काल के कवियों ने शृंगार को राधा और कृष्ण के चारों ओर इस प्रकार के संजोया कि लौकिक होते हुए भी इसका अलौकिक रूप दृष्टिगोचर हुआ। भक्ति के आवरण में भक्त कवियों

ने सब कुछ कह डाला लेकिन उनके काव्य में शृंगार के संतुलित रूप के ही दर्शन होते हैं। राधा के बाह्यसौन्दर्य के साथ कवियों ने उसकी आन्तरिक भावनाओं और मनोवृत्तियों के प्रसार को भी दिखाया। लेकिन रीतिकाल के कवियों ने राधा के उस पवित्र रूप को हटाकर उसे सामान्य नायिका के रूप में चित्रित किया।

हम कह चुके हैं कि रीतिकाल की शृंगार भावना का मूल स्रोत संस्कृत साहित्य में ही मिलता है। हिन्दी का नायिका मेघ और नख शिख बर्णन भी संस्कृत के आधार पर ही विकसित हुआ। किन्तु जहाँ संस्कृत में यह एक सामान्य विषय था वहाँ हिन्दी में आकर यह २००-२५० वर्ष तक मुख्य विषय बन गया। रीतिकालीन काव्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि किस प्रकार हिन्दी काव्य संस्कृत काव्य के तत्वों को अपने में समाहित करके विकसित हुआ। अमरकशतक के निम्नलिखित श्लोक को बिहारी के एक दोहे से मिलाने पर स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार बिहारी ने अमरक के भाव को अपनाया है—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतु मखिलः कालः किमागम्यते
मानं धत्स्व धृतिं वधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधता प्रतिबन्ध स्तामाह भीतानना,
नीचैः शंस हृदिस्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोदयति ।

किसी सखी की उक्ति है। वह मुग्धानायिका को समझा रही है कि वह (मुग्धा) इसी तरह अपने समय का दुरुपयोग करेगी। हाव भाव में दत्त हो जाओ, धीरज को धारण करो तथा अपने प्रिय को इतना सरल मत समझो। सखी के इस प्रकार कहने पर वह उत्तर देती है 'धीरे बोलो, कहीं ऐसा न हो कि मेरे हृदय में स्थित प्रियतम न सुन ले। इसी भाव को बिहारीलाल ने भी प्रदर्शित किया है—

सखी सिखावति मान विधि सैननि वरजनि बाल ।
हरए कहि मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ॥

इसी प्रकार के अन्य संस्कृत ग्रन्थों के शृंगार परक श्लोकों को हिन्दी में

अपना लिया गया । रीतिकालीन कवियों के अनेकों भाव संस्कृत काव्यों से ही अपहृत किये हैं ।

बिहारी रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं उनकी रचना के कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार इनके दोहों पर संस्कृत की शृंगार परक रचनाओं का प्रभाव था । इसी प्रकार अन्य रीतिकालीन कवियों की रचनाओं पर भी संस्कृत काव्य का ही पूर्ण प्रभाव था । बिहारी के प्रसिद्ध दोहे को ही लीजिए जिसके विषय में कहा जाता है कि यह इन्होंने राजा जयसाह की विलासिता के ऊपर अन्योक्ति के रूप में प्रस्तुत किया था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल ।

अली कली ही सों बिन्ध्यौ आगे कवन हवाल ॥

किन्तु बिहारीलाल का यह प्रसिद्ध दोहा भी उनका अपना मौलिक नहीं । यह भी गाथा सप्तशती के एक श्लोक का ही छाया अनुवाद है—

जावण कोस विकासं पावइ ईसीस मालई कलिया,

मअरन्द पाण लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ।

उपर्युक्त गाथा सप्तशती के इस उद्धरण का भाव है कि अभी मालती पूर्ण रूप से विकसित भी नहीं हुई है किन्तु रस के लालची भ्रमर तू उसका मर्दन भी करने लगा ।

बिहारीलाल के दोहे के भाव में और इसमें तनिक भी अन्तर नहीं । वही शब्द वही भाव और वही आशय है । इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि रीतिकालीन कवियों की काव्य धारा अधिकतर संस्कृत कवियों की भाव धारा से ही निस्सरित हुई थी । देव मतिराम, पदमाकर तथा अन्य कवियों की रचनाएँ इस बात का प्रमाण है ।

रीतिकाल का सम्पूर्ण नायिका भेद भी संस्कृत साहित्य की बिरासत है । किन्तु अन्तर इतना ही है कि संस्कृत में नायिका भेद को उतना व्यापक रूप नहीं दिया गया जितना कि हिन्दी के रीतिकाल में दिया गया । हिन्दी का नायिका भेद संस्कृत के विश्वनाथ एवं भानुदत्त के अनुकरण पर ही है । विश्वनाथ ने मुग्धा के तीन भेद किए थे—प्रथमावतीर्णा यौवना, प्रथमावतीर्णा मदन

विकारा और समधिक लजावती। इन्हीं के पर्याय रूप केशव और देव ने भी किये। अन्तर इतना ही है कि जहाँ विश्वनाथ ने मुग्धा के तीन भेद किए वहाँ इन रीतिकालीन कवियों ने मुग्धा के भेद चार किये। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन अन्य कवियों ने इन भेदों के भी उपभेद कर डाले। इसके अतिरिक्त संस्कृत के 'रस मंजरी' नामक ग्रन्थ के अनुकरण पर चिन्तामणि, मतिराम आदि कवियों ने ज्ञात यौवना और अज्ञात यौवना के रूप में भी वर्गीकरण किया।

इसी प्रकार प्रौढ़ा के भेदों में भी रीतिकालीन कवियों ने वृद्धि की। किन्तु इसके भेदों की उतनी संख्या नहीं जितनी कि मुग्धा के भेदों की।

परकीया के भेद भी रीतिकाल के कवियों ने संस्कृत आचार्यों के आधार पर ही किया। किन्तु जहाँ संस्कृत के कवियों ने परकीया के दो भेद किये वहाँ हिन्दी के आचार्य कवियों ने ६ भेद करके उन रूपों को और अधिक बढ़ा दिया।

भिखारीदास रीतिकालीन आचार्यों में इस प्रकार के आचार्य थे जिन्होंने संस्कृत के भेदों के अतिरिक्त कुछ मौलिक भेद भी किये और उनके लक्षण भी उनकी अपनी खोज और बुद्धि का परिणाम था। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन कवियों ने नायिका भेद को सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार भी विस्तृत किया जो संस्कृत काव्य से नितान्त मौलिक और नवीन था। इस प्रकार रीतिकाल का सम्पूर्ण नायिका भेद रीतिकाल के कवियों की मौलिक कल्पना का परिणाम नहीं वरन् संस्कृत काव्य के आधार पर ही उसका उदय हुआ।

हिन्दी में नखशिख वर्णन की परम्परा का विकास भी संस्कृत के अनुकरण पर ही हुआ। संस्कृत में नखशिख वर्णन को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था शृंगार रस की आलम्बन प्रायः नायिका ही होती थी। इसलिये उसके अंगों का वर्णन रस-परिपाक में अत्यन्त सहायक था।

अलंकार शास्त्र—रीतिकाल की कविता बाह्य-रूप-निरूपण पद्धति पर आधारित थी इसलिये उसमें अलंकारों को अधिक महत्व दिया गया। रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशव ने अलंकारों के विवेचन का आधार संस्कृत लक्षण ग्रन्थों को ही रखा। दरङी का 'काव्यादर्श' ही उनका आधार रहा है। केशव ने दरङी के उदाहरणों को भी उसी रूप में अपना लिया। किन्तु कुछ

अलंकारों के मेदों में उन्होंने अपनी मौलिकता भी दिखाई । सामान्य अलंकारों को केशव ने 'काव्य कल्पलता वृत्ति' और केशव मिश्र द्वारा रचित 'अलंकार शेखर' के आधार पर ही रखा ।

महाकवि देव ने भी केशव के आधार पर ही अलंकार निरूपण किया । दास ने इस विषय पर कुछ मौलिक दृष्टिकोण से काम लिया लेकिन उनका आधार भी मूलतः संस्कृत ग्रंथों के ऊपर ही था ।

लक्षण ग्रन्थों का प्रभाव—

रीतिकाल में शृंगार की जो अजस्रधारा बही उस पर संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों की शृंगारिक भावना का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है । नायिका-भेद, नखशिख वर्णन, अलंकार निरूपण आदि सभी में यह शृंगारिक भावना ओतप्रोत है । कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा कि संस्कृतमें शृंगार भावना किस कोटि की थी । खडिङ्गता नायिका का एक उदाहरण देखिये—

तदामम गण्डस्थल निमग्नां दृष्टि नानैषीरन्यत्र ।

इदानी सैवाहं तौच कपोलौ न सा दृष्टिः ॥

नायक नायिका के समीप स्थित है । वहीं पर उसकी प्रिय स्त्री भ खड़ी है । किन्तु नायक अपनी स्त्री के भय से उसको नहीं देख सकता । इसलिये वह अपनी स्त्री के कपोलों पर उस नायिका के प्रतिबिम्ब को इस प्रकार देखता है जिससे वह स्त्री यह समझे कि वह उसके कपोलों की कान्ति पर इतना अधिक आतुर है कि एकटक दृष्टि से देख रहा है । किन्तु जब वह नायिका वहाँ से चली जाती है तो वह नायक उसके कपोलों पर उस बिम्बोत्पत्ता से देखना बन्द कर देता है । किन्तु नायिका उसको तसड़ जाती है और उस नायक से कहती है—'तब तो (जब तुम्हारी प्रियतमा यहाँ खड़ी थी) मेरे कपोलों से अपनी दृष्टि को हटाने भी नहीं थे परन्तु अब (जब वह चली गई) मैं यहाँ हूँ और मेरे कपोल भी के ही हैं तथापि आपकी दृष्टि और की और हो गई है ।

इसी प्रकार एक व्यभिचारिणी नायिका का उदाहरण दिया गया है—

श्वश्रूरभ निमज्जति अभाहं दिवसके प्रलोकयः ।

मा पथिक राभ्यन्धक शभ्यायामावयर्निमडञ्च्यासि ॥

किसी पथिक से जिसे रात्रि में वहाँ रहना है स्वयं दूतिका नायिका की उक्ति है । हे रतौंधी रोग से पीड़ित पथिक ! तुम दिन में ही भली भाँति देख कर यह समझलो कि इस स्थान पर मेरी सास लेटती है और यहाँ पर मैं सोती हूँ । कहीं रात को ऐसा न हो जाय कि तुम धोखे से हम लोगों की शय्या पर न गिर पड़ो ।

इसी प्रकार रीतिकाल के एक कवि भी अपनी स्वयं दूतिका नायिका से इसी प्रकार की उक्ति कहलवाते हैं । अन्तर केवल इतना है कि जहाँ संस्कृत में केवल सास के सोने की चर्चा है वहाँ रीतिकालीन यह नायिका अपने प्रियतम के प्रवास तक की चर्चा कर देती है—

ननद निनारी सास मायके सिधारी,

अहो रैन अँधियारी भर सूझत नकर है ।

×

×

×

×

×

×

सावन की रात थोरी थोरी सियरात,

जागु-जागु रे बटोही यहाँ चोरनु कौ डर है ।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनमें रीतिकालीन कवियों ने उन उदाहरणों को भी अपना लिया है जो काव्य-प्रकाश और काव्य दर्पण में उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये थे । संस्कृत के इन ग्रन्थों में शृंगार की धारा इस अबाध गति से चली कि रीतिकाल की परिस्थितियों में अत्यन्त अनुकूल हो गई ।

रीतिकाल के कवियों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो उसमें तीन वर्ग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं—

—लक्ष्य ग्रन्थकार और रीति निरूपक आचार्य,

—वह कवि जिन्होंने रीति ग्रन्थों को आधार मानकर अपने काव्य का सुकन किया ।

—वह कवि जिन्होंने शृंगार के उदात्त रूप को अपनाकर रीतिबद्ध परंपरा से अपने को मुक्त रखा ।

लक्षण ग्रन्थकार—रीतिकाल के कवियों में एक वर्ग इस प्रकार के कवियों का था जो काव्य के लक्षणों का निरूपण करना ही अपनी प्रतिभा का परम लक्ष्य समझते थे । काव्य के लक्षणों की व्याख्या को कविता में बद्ध करके अपने आश्रयदाताओं के सम्मुख रखना ही इनका कर्तव्य था । कृपाराम केशवदास, चिन्तामणि आदि इसी प्रकार के कवि और आचार्य्य थे । इन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र की रचना करके हिन्दी काव्य की स्वच्छन्द धारा को एक सीमा में बद्ध कर दिया । रीति परम्परा के प्रचारक यह कवि ही कहलाये ।

रीतिशास्त्र से प्रभावित—कवियों का दूसरा वर्ग उनका था जो रीति की परम्परा को मान कर ही कविता करते थे । इन कवियों ने लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे किन्तु इनकी कविता काव्य शास्त्र के नियम और उपनियमों की मान्यता को स्वीकार करके ही चली है । रीतिकालीन कवियों में बिहारी, देव, सेनापति मतिराम और पद्माकर इसी प्रकार के कवि थे ।

स्वतंत्र कवि—तीसरा वर्ग उन कवियों का था जिन्होंने रीतिकालीन प्रभाव से अपने काव्य को प्रभावित होने से बचाया । उन्होंने शृंगार को ही अपने काव्य में स्थान दिया किन्तु उसको भक्त कवियों की सी उदात्त भावना और प्रेम के विशुद्ध रूप से उन्होंने गिरने नहीं दिया । घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि इसी प्रकार के कवि थे । उनका काव्य उनके हृदय की स्वाभाविक और सच्ची अनुभूति है । उनके ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था ।

रीतिकाल के मुख्य विषय :-

नायिका भेद—रीतिकाल का मुख्य विषय नायिका भेद है जो अत्यन्त ह व्यापक और विस्तृत है । सम्पूर्ण रीतिकालीन कवियों ने दो शताब्दी तक नायिकाओं के भेद प्रभेदों को वर्णित करने में ही सफलता का मार्ग दिखलाई देता था, और यदि इसे पूर्ण सत्य भी मानें तो अत्युक्ति भी नहीं होगी । क्योंकि उस समय के राजाओं की अभिरुचि ही नायिका भेद को सुनने वाली थी और उन्हीं को प्रसन्न करके ही यह कवि लोग अपना जीवनयापन कर

सकते थे । हिन्दी का उस काल का कोई भी कवि ऐसा नहीं कि जिसने नायिका के भेदों की व्याख्या नहीं की ।

अनेकों प्रकार से नायिकाओं के भेद किये गये । अवस्था के अनुसार नायिकाओं के आठ भेद किये गये । प्रकृति के अनुसार नायिकाओं के तीन भेद किये गये—उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा । नायक के प्रति नायिकाओं के जो सम्बन्ध हैं उनके विचार से भी नायिकाओं के तीन भेद हैं—१—स्वकीया २—परकीया और ३—सामान्या । इसी प्रकार इन के अनेकों भेद प्रभेद होते गये । रीतिकाल का सम्पूर्ण साहित्य नायिकाओं के महत्व को प्रतिपादन करने में ही लगा रहा । कुछ उदाहरणों से उस काल की प्रवृत्ति का पता लग जायगा । कवियों को इस प्रकार के वर्णनों को अपने स्वाभियों की इच्छा के कारण ही करना पड़ता था । स्वकीया नायिका का वर्णन कितना सुन्दर है । उसके सम्पूर्ण रूप को कवि ने प्रस्तुत कर दिखाया है—

जानि कुरंगन को मद मेल
लगाइये अंगन रंग सुवैती ।
चार दिना न भये अब हीं
पति कौन चढ़ी चित पै पिक बैनी ।
माइके की न मनं कर देहु
करे समुराग की सागरस बेनी
राजकुमारि बिथा भरिये करिये
किहि कारण भौंह तनेनी ॥

मुग्धानायिका को भी कवियों ने अनेक रूपों में देखा । मतिराम कवि ने मुग्धा के लक्षणों को अनेक सवैयों में दिखाया—

तब तो जितही जित ठाड़ी हुती
अब तो जन बे दिन भौनन के ।
तब तो पट ओढ़न जान नहीं
अब तो दिन सेज बिछौनन के ।

मतिराम कहैं चतुराई गहौ
 सु रहौ दिन चार न गौनन के ।
 अब जाइ पिया संग केलि करौ
 सु गये दिन खेल खिलौनन के ॥

यही शृंगार उन विलासी राजाओं को चाहिये था और कवियों ने उस प्रकार के शृंगार को ही प्रस्तुत किया । पद्माकर भी मुग्धा के लक्षणों को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

ऐ अलि या वलि के अधरान पै
 आनि चढ़ी कछु माधुरई सी ।
 त्यों पद्माकर माधुरी त्यों
 कुच दोउन की चढ़ती उनई सी ।
 ज्यों कुच त्योंही नितंब बढ़े
 कछु ज्यों ही नितम्ब त्यों आतुरई सी ।
 जानी न ऐसी चढ़ाचढ़ी में
 किहिधौं कटि बीच ही लूटि लई सी ॥

रीतिकालीन कवियों में इस प्रकार के लक्षणों की प्रस्तुत करके नायिका के मेदों को वर्णन करने की प्रकृति सामान्य थी ।

अज्ञात यौवना नायिका और ज्ञात यौवना नायिका के बीच संभाषण कराके पद्याकर ने जिस भावना को प्रस्तुत किया है वह रीतिकालीन शृंगारिक प्रवृत्ति की परिचायक है—

ऐ अलि हमें तो बात गात की न सुझि परे
 बूझति न यामें ऐसी कौन कठिनाई है ।
 कहैं पद्माकर क्यो अंग न समात आंगी
 लागी कहा तोहि आगी उर में उँचाई है ।
 तौव तजि यांयन चली है चंचलाई कत

बावरी विलोकि तेरी आंखिन में आई है ।
मेरी कटि मेरी भटु कौन धौं चुराई
तेरे कुचन चुराई धौं नितम्बन चुराई है ॥

इस प्रकार ही ज्ञातयौवना नायिका, नबोढा नायिका को भी प्रत्येक कवि ने अनेक प्रकार से चित्रित किया है । मध्यानायिका और उसके भेद उपभेदों को भी कवियों ने विभिन्न रूप से देखा । नायिका के प्रथम लक्षण प्रस्तुत करके फिर उसका उदाहरण नीचे दिया जाता था—

यथा—॥अथ प्रेम गर्विता लक्षण ॥

दोहा—

जाको पति के प्रेम को गर्व होइ चित आइ ।
प्रेम गर्विता कहत हैं ताहि सकल कविगाय ॥

उदाहरण—

आंखिन में पुतरी हो रहे
हियरा में हरा हो सबै मुख लूटै ।
अंगन संग बसै अंग राग हो
जीव ले जीवन मूर न लूटे ॥
देवजू प्यारे के न्यारे सबै गुण
मोमन मानिक से नहिं छूटे ।
और तियान सौं तौ बतियाँ करै
मो छतियाँ ते छनो जब छूटै ॥

नखशिख वर्णन :—इस प्रकार के वर्णनों से हिन्दी का दो सौ वर्ष का साहित्य भरा पड़ा है । नायिकाओं के भेद उपभेद, उनके अंगों का सौन्दर्य आदि ही काव्य के विषय थे । नखशिख वर्णन भी उन काल के कवियों का प्रिय विषय था । ऐसा कोई भी कवि नहीं था जिसने इस विषय को नहीं स्पर्श किया हो । केवल रूप सौन्दर्य का चित्रण ही कवियों को पर्याप्त नहीं था । उनको तो नायिका के रोम रोम का वर्णन करने में आनन्द आता था । बेसी,

केश, मुख, नासिका, कपोल, ओष्ठ, भृकुटी, नेत्र, दाँत, कुच, पेट, जंघायें, नाभी, त्रिवली आदि सभी शरीरावयवों को रीतिकालीन कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया। कोई भी कवि नखशिख वर्णन किये बिना अपने काव्य को पूर्ण नहीं समझता था। देव, बिहारी, मतिराम सेनापति, पद्माकर आदि सभी कवियों के काव्य में नखशिख वर्णन को एक व्यापक स्थान मिला। नीचे के उद्धाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार उस काल के कवि लोग इस प्रकार अपने समय का दुरुपयोग इस ऐन्द्रिकता के प्रसार में कर रहे थे—

जंघा—

दोहा—जंघ जुगल लोइन निरे करे मनो विधि मैन ।

केलि तरुन दुख दैन ए केलि तरुन सुख दैन ॥

(बिहारी)

कटि— हारी हार धार उर भार औ उरोज भार

यौवन मरोर जोर दावे दलयतु है ।

परग परग पर यह जिय होत सेय

टूटि न परत कौन पुष्प भलियतु है ।

कोऊ कहै खरी खीन कोऊ कहै कटि हीन

मदन गोपाल ऐसं चित्त धरियनु है

काहू की न मानै सौँ कहत ही आई नाक

ऐसे खीने लाँक पै उलाँक चलियतु है ।

इसी प्रकार के अनेकों विवरण उस काल के कवियों के मिलते हैं। उन्होंने, भाव की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया उनको तो वस्तु का वर्णन मात्र करना था।

इस प्रकारके वर्णनों के द्वारा उस समय के विलासी राजाओं और सामंतों की काम-पिपासा उद्दीप्त होती थी और वह लोग इन कविराजों को धन देकर इसी प्रकार की कविता लिखने को प्रोत्साहित करते थे। नखशिख वर्णन में कवियों ने नायिकाओं के उन अंगों पर अपना ध्यान अधिक आकर्षित किया जो काम को उत्तेजित करने वाले थे।

वाह्य सौन्दर्य की प्रधानता—

इस काल के कवियों की मुख्य प्रवृत्ति थी कि वह वाह्य-सौन्दर्य को ही अधिक महत्व देते थे। इस काल के कवियों की दृष्टि आन्तरिक सौन्दर्य की उन गुत्थियों की ओर नहीं गई जिनको सूर और तुलसी के काव्य में अधिक महत्व दिया गया। इसका मूल कारण यही था कि यह कवि रसिक थे और इनको नारी के वाह्य शरीर से ही अधिक मोह था। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने काव्य को भी वाह्य उपकरणों से ही सुसज्जित किया। भाव को प्रमुख स्थान बहुत कम मात्रा में मिला। भाषा, अलंकार तथा नायिकाओं के भेदों को ही कवियों ने अधिक महत्व दिया। उन्होंने हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों के सौन्दर्य को इन सब के सम्मुख विस्मृत कर दिया। यह बात दूसरी है कि कहीं पर अनायास ही भावराशि आ गई हो। इस प्रकार के भी अनेकों स्थल बिहारी, मतिराम, देव आदि कवियों में मिल जाते हैं। कवियों को अलंकारों के प्रयोग कविता में आवश्यक जान पड़ते थे। महाकवि केशव का यह दोहा सिद्धान्तवाक्य हो रहा है—

जद्यपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिन न विराजहीं कविता बनिता मित ॥

अभी तक कविता की आत्मा भाव ही थे और उन्हीं को पूर्व के कवियों ने अधिक महत्व दिया था। किन्तु रीतिकाल में आकर अलंकारों को ही कविता का सौन्दर्य कहा गया। भाषा में समासपद्धति को अपनाकर भाषा सौन्दर्य का समावेश करना आवश्यक हो गया। पद्माकर जैसे अनुप्रास भक्त और सेनापति जैसे श्लेष अलंकार के प्रशंसकों ने काव्य के भावपक्ष को सर्वथा भुला दिया। इस प्रकार रीतिकालीन काव्य में चमत्कार का योग होने से फ़ारसी और उर्दू के समान वाह्यवादी प्राप्त करने की शक्ति आ गई। कविता का मूलाधार भाव अब अग्रधान रूप प्राप्त करके कभी-कभी ही दिखाई देता था। अब काव्य अन्तःचेतना प्रदान करने वाला न होकर केवल बुद्धि का चमत्कार प्रदर्शित करने वाला ही रह गया था। उपर्युक्त कथन से यह आशय नहीं पना चाहिए कि रीतिकालीन काव्य में भाव पूर्णस्थल थे ही नहीं। उस काल

में भी भाव पूर्णस्थल थे किन्तु अन्तर इतना था कि जहाँ भक्तिकाल के कवियों की मूल प्रवृत्ति भावों को प्रधानता देने की ओर थी वहाँ इन रीतिकालीन कवियों की प्रवृत्ति कला के वाह्य उपकरणों को खोजने की ओर अधिक रही। बिहारी जैसे कलाशास्त्री ने तो वाह्य-सौन्दर्य के साथ-साथ अन्तः वृत्तियों को भी अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रदर्शित किया है। किन्तु उनके काव्य की मूल प्रवृत्ति अलंकार और अन्य भाषा विषयक वाह्य उपकरणों की ओर ही अधिक रही। पद-माकर भाषा के सजाने में रीतिकालीन कवियों में सबसे अग्रणी रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भक्तिकाल में काव्य की मूल प्रवृत्ति आन्तरिक भावों के प्रदर्शन की ओर अधिक थी उसी प्रकार रीतिकालीन काव्य की मूल प्रवृत्ति वाह्य-सौन्दर्य के उत्कर्ष की ओर ही अधिक रही।

रीतिकाल और घनानन्द

रीतिकाल में कृष्ण और राधा का रूप—घनानन्द का प्रादुर्भाव जिस समय हुआ उस समय हिन्दी-साहित्य का वातावरण शृंगार से आप्लावित था सर्वत्र शृंगार की धारा में ही कवि लोग डुबकी लगाकर अपने कवि-कर्म को सफल बना रहे थे। भक्ति, योग और अन्य उपासना पद्धतियों का जोर समाप्त हो चुका था अब न तुलसी की राम-काव्य की धारा ही दिखाई देती थी और न कबीर, दादू आदि सन्तों की वानी का ही स्वर सुनाई देता था, न सूर के माखनचोर, और पैर में पैँजनी बाँधकर नाचने वाले कृष्ण का बालरूप ही दृष्टिगोचर होता था। कृष्ण का जो रूप मिलता था वह शृंगार में लथपथ और भोग-विलास में रँगा एक ऐसा रूप था जो तात्कालिक कुत्सित विचार-धारा के किसी भी युवक का रूप हो सकता था। अब कृष्ण का पतित-पावन दुष्ट-संहारक और ललितकलाओं के प्रचारक का रूप नहीं था वरन् एक विलासी और लम्पट नायक के रूप को ही कृष्ण नाम से सम्बोधित किया जाने लगा था। राधा भी कृष्ण के समान ही अपने पद से च्युत हो चुकी थी। उनको भी साधारण नायिका का रूप देकर उनके उस प्रेमतत्व की अनुभूति को समाप्त कर दिया गया था जो शताब्दियों से हिन्दू जनता को एक गम्भीर भाव-धारा में निमज्जित करती चली आ रही थी। घनानन्द का रचनाकाल ऐसे समय में हुआ जिस समय साहित्य में अनेकों धारायें शृंगार के सागर को भरने का प्रयत्न कर रही थी। उन सब धाराओं के मूल में शृंगार भावना की ही प्रधानता थी।

तात्कालिक मुख्य प्रवृत्तियाँ—उस समय प्रधान रूप से काव्य-शास्त्र के अनेकों भेद-प्रभेदों की नाना प्रकार से व्याख्या हो रही थी। रस, अलंकार, ध्वनि आदि को ही काव्य में प्रधान रूप से स्वीकार कर लिया गया। नायिका

भेद, नव्यशिखर वर्णन, ऋतु वर्णन तथा लुब्धों में कविता, सवैये, दोहा आदि को प्रधानता दी गई। शृंगार रस को रस-राजत्व दिया गया। भक्ति और उपासना को अधिक महत्व नहीं दिया। यदि उस काल में भक्ति का रूप कुछ मिलता भी है तो वह भी शृंगार की भावना से ओतप्रोत और निम्न स्तर का ही है। भक्ति की उस विमोहता और रसमग्नता का चित्र केवल कुछ कवियों में ही मिलता है। घनानन्द आदि कवियों ने कृष्ण और राधा विषयक कुछ कविताएँ लिखीं लेकिन उनमें भी उनकी मनोवृत्ति शृंगार के रूप को दिखाने की ओर ही अधिक रही है। लौकिक प्रेम का स्पष्टीकरण इन कवियों के द्वारा भी अधिककिया गया।

भक्तिकाल के कवियों ने काव्यके आन्तरिक सौन्दर्य को देखने का ही प्रयत्न किया था। उनके काव्य में उनकी आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति थी। किन्तु इस काल के कवियों ने अपनी कविता राज्याश्रय में ही लिखी इसलिए उन्होंने अपने स्वामियों की प्रसन्नता के लिये चमत्कार की ओर ही अपना ध्यान अधिक रखा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनकी कविताओं में कहीं-कहीं भाव भी उच्च कोटि के हैं किन्तु उनकी ओर ध्यान अधिक नहीं। देव अवश्य एक ऐसे कवि थे जिनमें हम रीतिकालीन नियमों की मान्यता के होते हुये भी भाव-पक्ष भी गौण नहीं पाते। कहीं-कहीं तो उनके काव्य में भक्त कवियों की-सी ही तन्मयता प्रतीत होती है।

सतसई लिखने की एक परम्परा सी चल पड़ी थी। बिहारी, मतिराम आदि अनेक कवियों ने सतसइयों की रचना की जिनमें शृंगार रस को ही प्रमुखता दी गई।

इस काल में लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी चल पड़ी। कवि लोग कविता को केवल नायिकाओं के लक्षण और येदों के ही लिये लिखते थे। इस काल की विशेषताओं के विषय में आचार्य शुक्ल ने इस प्रतार अपना मत दिया— 'रीति ग्रन्थों की इस परम्परा के द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चित्य बातें तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और सीमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया।

वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुता-से गोचर और अगोचर दृश्य रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गये। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत कम रह गया।'

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रीतिकालीन कविता में अनेक रूपता नहीं थी। वह केवल कुछ बँधी हुई परिपाटियों पर ही चलने लगी। कविता की सफलता इसी में थी कि वह पिंगल आदि के लक्षणों से युक्त हो और उसमें कोई भी ऐसा दोष नहीं जो कि काव्य-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल हों। यही कारण था जिससे कवि लोग अपनी कविता की सफलता अपने ही मुख से घोषित करने लगे—

राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं,
 बुध कवि के जो उपकण्ठ ही बसति है।
 जोए पद मन को हरष उपजावति है,
 तजै को कनरसै जो छन्द सरसति है ॥
 अच्छर है विशद करति उपै आप सम,
 जातैं जगत की जड़ताऊ विसरति है।
 मानो छवि ताकी उदवत सविता की सेना--
 पति कवि ताकी कविताई विलसति है ॥

ऊपर का कवित्त सेनापति कवि का है। कवि अपने कला-कौशल पर स्वयं मुग्ध है। किन्तु यदि उसके इस कवित्त को देखा जाय तो इसमें केवल श्लेष का चमत्कार है वह भी बड़ी खींचतान के साथ। अन्यथा कवि किसी भी प्रकार के भाव को इस कवित्त में नहीं दिखाना सका। लेकिन फिर भी सेनापति कवि का स्थान रीतिकालीन कवियों में अपनी विशेषता रखता है क्योंकि उन्होंने रीति में बद्ध होकर ही कविता लिखी थी और उस काल की जनता कविता के बाह्य आवरणों की सजावट पर ही मुग्ध थी इसलिये सेनापति भी रीतिकाल के प्रमुख कवियों के अन्तर्गत ही माने गये।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि घनानन्द के काल

की मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ थीं—(१) काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण और उनका उदाहरण सहित विवेचन होता था। नायिकाओं के भेद और प्रभेदों को भी काव्य में प्रमुख स्थान था। नखशिख वर्णन का प्राधान्य था। (२) मुख्य रस शृंगार था। शृंगार के संयोग और वियोग-पक्ष को कवियों ने अनेक प्रकार से वर्णित किया है। (३) अलंकारों के द्वारा अर्थ में चमत्कार विधान करने का प्रयत्न रहा। (४) नारी के प्रति सामन्तवादी दृष्टिकोण था वह पुरुष के भोग की ही वस्तु थी। उसके सामाजिक अधिकारों का पक्ष गौण था। (५) राधा और कृष्ण की प्रेमाभक्ति के स्थान पर नायक और नायिकाओं की विलास प्रियता ही प्रधान थी।

स्वच्छन्द कवि घनानन्द—ऐसी परिस्थितियों है महाकवि घनानन्द उत्पन्न हुये। किन्तु उन्होंने शृंगार के उदात्त रूप को ही लिया और प्रेम की ऐसी तान छोड़ी जिसने सम्पूर्ण रीतिकालीन वातावरण की नीरसता को दूर कर दिया जो एक बँधी हुई परिपाटी के कारण उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने अपने भग्न हृदय की ऐसी सच्ची और सरल अभिव्यक्ति की कि उस समय के कला-पारखियों ने उनके काव्य को रीतिकालीन काव्य से अधिक महत्त्व दिया। घनानन्द का काव्य किसी प्रकार की संकुचित सीमाओं के बन्धनों में नहीं था। इसकी किसी सँकरी और गन्दी गली में नहीं चलना था वरन् एक प्रशस्त राज-मार्ग का अवलम्बन करना था। घनानन्द को किसी राजा और सामन्तों की प्रशंसा या प्रसन्नता के लिये अपने काव्य का सृजन नहीं करता था वरन् अपने हृदय की कोमल और उदात्त भावनाओं को जनता के समीप पहुँचाना था। यही कारण है कि उनकी कविता में भावोद्रेग को ही प्रधान रूप मिला।

घनानन्द की विशेषता—रीतिकालीन कवियों और उनके काव्य से यदि घनानन्द और उनके काव्य की तुलना की जाय तो घनानन्द में और उन रीतिकालीन कवियों के काव्य में ज़मीन आसमान का अन्तर है। रीतिकालीन कवियों की मुख्य प्रवृत्ति थी कि उनमें भक्ति की विभोरता और तन्मयता का कहीं नाम नहीं था। केवल नायिकाओं के भोग-विलास, अभिसार और अन्य चेष्टाओं का वर्णन ही उनका मुख्य कविकर्म था किन्तु घनानन्द में ऐसी कोई भी बँधी परिपाटी नहीं थी। उनका काव्य उनके हृदय की मुक्तावस्था में ही

इस प्रकार की अनुप्रास प्रियता काव्य में क्या सौंदर्य दे सकती है उसे प्रत्येक पाठक अनुयायस ही समझ सकता है। भाव नाम की कोई वस्तु इन कविताओं में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगी। इस प्रकार का चमत्कार केवल उन्हीं कवियों में अधिक रहा जो अपने आश्रयदाताओं की कुत्सित मनोवृत्ति को चमत्कार के द्वारा आकर्षित कर सम्पूर्ण दरबार को स्तंभित करने का प्रयास करते थे।

ग्वाल कवि ने भी अपनी रचनाओं में इन चमत्कारिक प्रयोगों का विधान रखा है। उनकी रचनाओं में भी कला के निकृष्ट प्रयोग अनुप्रास-प्रियता का समावेश सर्वत्र है—

गोरे गात वारी ग्वाल गोकुल गली में, जोकि
 गोरी करि दीनी परछाया मो अनन्द नै
 × × ×
 ताब मेहताब की न चारू चाँदनी की फाब दाब
 लीनी आब सब मेरे मुख चन्द नै ॥

लिये उनके काव्य में अलंकारों ने भाव-सौंदर्य को नष्ट नहीं किया। भाव सर्वदा अपनी मुक्त और व्यापक अवस्था को बनाये रखते हैं। अलंकार और अन्य कला के वाह्य उपकरण कवि के प्रयास से नहीं सजाये गये। एक ही सवैये में आप देख सकते हैं कि भाव और वृत्तियों के स्वाभाविक उत्कर्ष में अनुप्रासों का प्रयोग कितना सहायक हुआ है—

भोर तें साँझ लो कानन ओर
निहारति वावरी नेंकु न हारति ।
साँझ ते भोर लों तारनि ताकिबो
तारनि साँ इकतार न टारति ।
जौ वहाँ भावतौ दीटि परै
धन - आनन्द आँसुन आँसर गारति ।
मोहन - सौहन जोहन की
लगियै रहै आँखिन के उर आरति ।

अनुप्रासों के प्रयोग में कवि की बुद्धि का चमत्कार बिल्कुल नहीं। स्वतः ही भाव तरंग के साथ उन्होंने अपने को उचित स्थान पर लगा लिया है।

रीतिबद्ध कवियों का प्रभाव :—धारा के विरुद्ध चलने वाले व्यक्ति को अचानक ही सफलता नहीं मिलती। जिस समय कोई मनुष्य किसी नदी की धारा में बहाव के विपरीत चलता है तो उस विरोध के लिए कभी कभी उसको उस धारा में बहना पड़ता है। घनाग्न को भी इसी प्रकार रीतिबद्ध परम्परा का विरोध करना था। यदि वह उस अगाध सरिता के प्रवाह के विरोध में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा देते तो हो सकता था कि वह उस धारा को चीर कर अपने पथ को प्रशस्त नहीं कर पाते। किन्तु उन्होंने रीतिकालीन उस प्रमुख धारा के कुछ प्रचलित तत्वों को अपनाने का प्रयत्न भी किया। नायिका भेद, नखशिख वर्णन आदि के कुछ उदाहरण उनके काव्य में भी मिल जाते हैं। कारण भी स्पष्ट है। जनता की रुचि एक लम्बे समय से जिस मार्ग का अनुसरण कर रही थी उस मार्ग से उसे हटा देना एक साथ सरल नहीं था। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं लेना

चाहिये कि घनानन्द ने जागरूक होकर यह सब किया । यह तो उन परिस्थितियों का प्रभाव था जो उस समय के वातावरण को आच्छन्न किये हुये थीं, फिर घनानन्द पर कोई दोष नहीं लगाया जा सकता । क्योंकि खंडिता और अन्य नायिकाओं के वर्णन में भी वह आन्तरिक सौंदर्य की ओर ही अधिक झुके हैं । रीतिबद्ध कवियों की उस अश्लीलता को उन्होंने अपने काव्य में स्थान नहीं दिया । रीतिकालीन कवियों के समान उन्होंने शृंगार-रस को ही अपनाया किन्तु उसमें भी उन्होंने संयत होकर ही काम लिया । रीतिबद्ध कवियों ने संयोग शृंगार में अपने कुत्सित एवं जघन्य विचारों का समावेश करने में स्वतन्त्रता से काम लिया है । किन्तु घनानन्द ने संयोग शृंगार को प्रधानता न देकर वियोग की ओर ही अपना ध्यान आकर्षित किया है और इस प्रकार उनके वियोग वर्णन में मर्मस्थल की सुन्दर भाँकियाँ हैं । वियोग की मात्रा को ऊहात्मक वर्णनों के द्वारा नोंदने का प्रयत्न नहीं किया गया ।

नायिका भेद के कुछ उदाहरण घनानन्द के काव्य में मिलते हैं । प्रौढ़ा-धीराधीरा का एक उदाहरण रीतिबद्ध कवियों के भाव की समानता का परिचायक है—

रूप के भार न होति है सोंही
लजोंही ये डीठ सुजान पै भूली ।
लागि ये जातन लागी कहुँ
निशि जागत ही पलको गति भूली ।
बैठिये जू पिय बैठन आजु
कहा कहिये उपमा समतूली ।
आये हो भोर भये घन-आनन्द
आँखिन माँझ तौ साँझ सी फूली ॥

देव कवि ने भी इसी प्रकार की एक उक्ति अपनी नायिका के द्वारा अभिव्यंजित कराई है—

रावरे पाँयन ओठ लसैं
पग गूँजरी वार महावर डारी ।

सार असारी हिये लहकै
 छलकै छवि छोरन घूम घुमारी ।
 आहुजू आहु दुराहु न मोसों
 देव जू चन्द तुरै न अन्धारी ।
 देखौं हौं कौन सौ छैल छिपाय
 तिरीछे हँसै वह पीछे तिहारी ॥

कवियों ने इस प्रकार के वर्णन करना अपना उद्देश्य बना लिया था । बिहारीलाल ने तो अनेक प्रकार की उक्तियों के द्वारा नायिका से नायक को लजित कराने का प्रयत्न किया है—

पावकु सौ नयनन लगै जावक लाग्यो भाल ।
 मुकुर होउगे नैंक में मुकुर बिलोकौ लाल ॥
 पल सोंहे पगि पीक रंग छल सोहैं सब बैन ।
 बल सोंहे कत कीजियत ए अलसोहैं नैन ॥

घनानन्द ने प्रोषितपतिका नायिका का वर्णन तो अनेक स्थानों पर है । उसमें उनको रीतिबद्ध कवियों की परम्परा का अनुगामी कहा जा सकता है क्योंकि उस समय प्रोषितपतिका नायिका का वर्णन प्रत्येक कवि के काव्य में मिलता है । लेकिन रीतिबद्ध परम्परा के कवियों ने उन उक्तियों में चमत्कार का प्रयोग अधिक किया था । घनानन्द की प्रोषितपतिका नायिका अपने हृदय की वेदना को लेकर ही चली है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि घनानन्द के काव्य में प्रोषितपतिका नायिका के वर्णन तो अवश्य हैं किन्तु उनमें रीतिकालीन कवियों की सी स्थूलता न होकर अन्तः वृत्तियों की सूक्ष्माति-सूक्ष्म तरंगों का ही दिग्दर्शन कराया गया है । इस दृष्टि से देखा जाय तो उनकी प्रोषितपतिका नायिका भक्त कवियों की प्रोषितपतिका की श्रेणी में ही आती है । सूरदास नन्ददास भक्त कवियों में इसी प्रकार की हृदय की गहराई को ही अधिक पाते हैं । घनानन्द की प्रोषितपतिका नायिका में भी प्रेम की व्यञ्जना अधिक है—

कितकों दरिगौ वह द्वार अहो

जिन मोतन आँखिन ढोरत हे ।
 अरसानि गही वह बानि कछू
 सरसानि सों आनि निहोरत हे ।
 घनआनन्द प्यारे सुजान सुनो
 तब तो सब भाँतिन भोरत हे
 मन माँझ जो तोरन हीं की हुती
 विसवासी सनेह क्यों जोरत हे ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह भी प्रोषितपतिका नायिका का कथन है किन्तु इसमें जो गूढ़ प्रेम की व्यंजना है वह रीति परम्परा के किसी भी कवि में नहीं मिलेगी उदाहरणार्थ पदमाकर का एक सवैया उद्धृत किया जाता है । उससे अन्तर स्पष्ट हो जायेगा—

अब हूँ है कहा अरविन्द सौ आनन
 चन्द के हाय हवाले परथौ ।
 पदमाकर भाषे न भाषे बनै
 जिय ऐसे कछू बकसाले परथौ ।
 इन मीन बिचारथो बध्यो बनसी
 पुनि जाल के जाय दुसाले परथो ।
 मन तो मनमोहन के संग मो
 तन लाज मनोज के पाले परथौ ॥

दोनों सवैयाँ से स्पष्ट है कि घनानन्द के द्वारा जिस गन्भीर भाव की व्यंजना की गई है वह पदमाकर के द्वारा न की जा सकी । भाव की उत्कृष्टता जो घनानन्द में है वह पदमाकर में नहीं ।

खंडिता नायिका की कुछ उक्तियाँ अवश्य रीतिपरम्परा के अनुकरण पर ही हुई है । उनमें मौलिक भावों का समावेश नहीं हो सका । कुछ सवैयाँ तो ऐसे प्रतीत होते हैं मानों रीतिबद्ध कवियों के भावों से ही श्रोतप्रोत करके रख दिये हों—

रूप के भार न होत हँसों ही
 लजौंही ये दीठि सुजान पै भूली ।
 लागियों जात न लागी कहूँ
 निसि पागी तहीं पलको गति भूली ।
 बैठिये जू हिय बैठत आजु
 कहा उपमा कहिये समतूली ।
 आये हौ भोर भये घन-आनन्द
 आँखिन माँझ तो साँझ सी फूली ॥

खण्डिता नायिका की एक और उक्ति में भी इसी प्रकार नायक पर व्यंग्य है—

रति रंग रागे प्रीति पागे रैन जागे नैन
 आये अब इतै घूमि भूमि छवि के छुके ।
 सहज विलोल भये केलि की कलानन में
 कबहूँ उमँगि रहे कबहूँ जके थके ।
 नीकी पलकन पीक लीक भलकन सो है
 रस बल— कन बन मदन कटूस के ।
 सुखद सुजान घन-आनन्द जू पोषे प्रान
 अचरज आँखिन उधारे लाज कोट के ॥

खण्डिता के उपर्युक्त उद्धरणों में रीति परम्परा के कवियों के से भावों को ही दिखाया गया है । यदि घनानन्द और सुजान नाम को हटा दिया जाय तो उनकी इन रचनाओं को रीतिकालीन अन्य कवियों की रचनाओं में आसानी से मिलाया जा सकता है । एक अन्य कवित्त में तो केवल उक्ति का चमत्कार ही मिलता है—

जान प्यारे नागर सुरूष गुण आगर
 उजागर सुजागर विलास रसमसे हो ।
 नवल सनेह साने आरसनि सरसाने

बिधना बनाय बाने अंग अंग लसे हो ।
 छबि निबरे हो बड़े नीके ही लगत मोहि
 आनंद के घन गढ़ गौसन से मसे हो ।
 भोर भये आये भौंति भौंति मेरे मन भाये
 एहो घर बसी राति कौन घर बसे हो ॥

खण्डिता की इस प्रकार की उक्तियाँ रीतिकालीन कवियों के काव्य में प्रमुखता से हैं । नायिका वाक्य चातुर्य के साथ नायक को अपराधी घोषित करती है । इस प्रकार के वाक्-चातुर्य को उस काल के रसिकों के द्वारा आदर दिया गया और उसी का यह परिणाम था कि घन-आनन्द जैसे प्रेम के उपासक कवि के ऊपर भी उस परम्परा का प्रभाव पड़ गया । आगे एक और उद्धरण देकर दिखाया जाता है कि किस प्रभाव में आकर घनानन्द की कविता अपने स्वाभाविक गुण को छोड़ कर शाब्दिक जालों की रचना में लगी—

लोचन लाल गुलाल भरे
 कि खरे अनुराग सौं भाग जमाये ।
 कै रस बावर चौचंद में
 छतिया पर छैल नखत्त छाये ।
 भीजि रहे अति नीर सुजान
 घरी डग डू डग होत सुहाये ।
 भोर डू ऐसी खिलारन पै
 घन आनन्द की छल छूट न पाये ॥

पद्माकर के एक कवित्त में खण्डिता नायिका का वर्णन केवल उक्ति का चमत्कार मात्र है । नायिका किस प्रकार नायक के चिह्नों को देखकर अपने भावों को परिवर्तित करती है । इस भाव को ही यह उक्तियाँ परिलक्षित करने का प्रयास मात्र है—

बैठी परजंक पै नवेली निरशंक जहाँ
 जागी ज्योति जाहिर जबाहिर की जागे ज्यों ।

कहूँ पद्माकर कहूँ ते नन्द नन्द तहाँ
 औचक हू आप अललाय प्रेम पागे ज्यों ॥
 भूपकोंहे पलन पिया के पीक लीक लखि
 भुकि भहराइ हू नेक अनुरागे त्यों ।
 वैसे ही मयंक मुखी लागत न अंक हुती
 देखि कें कलंक ऐसी अंक अब लागे, क्यों ॥

रीतिकालीन काव्य परम्परा का अगर कहीं घनानन्द पर प्रभाव है तो वह ऐसे स्थलों पर ही अन्यथा कवि ने अपने भाव के उदात्त रूप की सर्वदा रक्षा की है। स्वाधीनपतिका नायिका का चित्रण भी घनानन्द के काव्य में भिलता है। परकीया स्वाधीनपतिका को उन्होंने अपने काव्य में अधिक स्थान दिया है। रीति परम्परा के कवियों का सा अनुप्रास प्रेम भी यत्र तत्र है और किन्तु उच्च कोटि का ही है—

अँगुरीन लौं जाइ भुलाइतहीं,
 फिरि आइ लुभाय रखौ तरवा ।
 चपचाइन चाइ ही एड़िन है,
 छपछाय छकी छवि छाइ छवा ।
 घनआनंद यों रस भीति भिजो,
 कबहू विसराम न लोक नवा ।
 अलबेली सुजान के पाइन पाइ,
 परो न टरो मन मेरो भवा ॥

उपर्युक्त सबैये में कवि ने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सुजान के पैरों की सुन्दरता को देखकर मेरा मन इतना मुग्ध हुआ कि वह अब उनको भुला भी नहीं सकता। इसके अतिरिक्त और क्या भाव कवि दिखाना चाहता है वह हमारी बुद्धि में तो आता नहीं। हाँ दो स्थानों पर अनुप्रास के सौन्दर्य को अवश्य यहाँ दिखाया गया। सम्पूर्ण पद केवल शब्दों का आडम्बर मात्र है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। घनानन्द जैसे कवि में यह रीतिकालीन

प्रभाव अधिक नहीं लेकिन फिर भी उनकी रचनाओं में अनेकों स्थल इस प्रकार के हैं जहाँ इस परम्परा का अनुकरण अनजाने में ही हो गया है—

रति साँचे ढरी अछिवाइ भरी,
परवीन गुराई पै पेखि पगै ।
छवि घूमघरै मुरै मुरवान सों,
लोभी खरै रसभूम पगै ॥
घनआनंद एड़िन आन मुडै,
तरवान तरे ते भगै न डगै ।
मन मेरौ घने डरवाइ नचै,
तुव पायँन लाग न हाथ लगै ॥

इस प्रकार के वर्णनों का घनानन्द की कविता में आधिक्य नहीं । यह तो केवल उस वातावरण का प्रभाव है जिसने शताब्दियों तक हिन्दी साहित्य के ऊपर अपना प्रभाव जमा रखा था ।

फारसी काव्य का प्रभाव—घनानन्द की भाषा पर भी उस काल के कवियों की भाषा का प्रभाव है या कहना चाहिये कि उस काल में फारसी शासक वर्ग की भाषा होने के कारण प्रत्येक कवि पर अपना कुछ न कुछ असर अवश्य डालती थी । घनानन्द के ऊपर भी ऐसा प्रभाव है । वियोगवेलि और इश्कलता तो उस काल की उस प्रेम परम्परा के ही प्रतीक हैं जो सूफी सन्तों के प्रभाव से उस काल के साहित्य में अपना घर बना चुकी थी । पीर की चर्चा कवि ने वियोगवेलि में इस प्रकार की है—

लिखों कैसे पियारे प्रेम पाती ।
लगी अँसुअन भरि है ढूँक छाती
अनोखी पीर प्यारे कौन पावै ।
पुकारों मौन मैं कहिबौ न आवै ॥

इश्कलता में तो कवि ने स्पष्ट रूप से प्रेम की पीर को वर्णित किया है ।
फारसी के शब्दों की भी भरमार है—

इश्क़ शहर के बीच है यह अकह कहानी ।
 अलकों से बाँधे रहै महबूब गुमानी ॥
 रहौ खुशी महबूब नन्द के मनमाने तित जावौ जू ।
 कदी-कदी धनआनंद जानी इन गलियन भी आवौ जू ॥

‘वियोगबेलि’ की भाषा ब्रज है लेकिन उसमें कवि ने जो छन्द चुना है वह फ़ारसी भाषा का है । इसके अतिरिक्त उसमें जिस वियोग और प्रेम को कवि लेकर चला है उस पर भी फ़ारसी काव्य-पद्धति का ही प्रभाव है । जो रीति-काल के अधिकतर कवियों पर था । भारतीय प्रेम में वीभत्स चित्रों को उपस्थित नहीं किया जाता किन्तु फ़ारस के प्रेम में प्रेमी और प्रियतमा दोनों ही अपनी आँखों से आँसू के स्थान पर रक्त बहाने लगते हैं । इस प्रकार के वर्णन सूफी कवि जायसी, कुतुबन आदि में भी भरे पड़े हैं । घनानन्द में भी कुछ इस प्रकार के वर्णन हैं—

सैन कटारी आसिक उर पर तैं यारा झुकभारी है ।
 महर लहर ब्रजचन्द यार दी जिन्द असाड़ी ज्यारी है ॥

इसी प्रकार इश्क़लता का एक और उद्धरण है—

पल पल प्रीति बढ़ाय हुआ बेदरद है ।
 आसिक उर पर जान चलाई कर्द है ॥

‘सुजान हित’ ‘कृपाकंद’ आदि में भी इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं ।

कारी कूर कोकिला कहा कौ बैर काढ़ति री
 कूकि कूकि अब ही करेजौ किन कोरि लै ।

× × × ×
 × × × ×

जौ लौं करैं आवन विनोद वर सावन वे
 तौ लौं रे दरारे बजमारे घन घोरिलै ।

इस प्रकार यदि घनानन्द के काव्य को व्यापक रूप से देखा जाय तो उसमें उस काल की प्रचलित परिपाटियों और मान्यताओं का समावेश भी मिल

जाता है। किन्तु ऐसा करने में कवि का सजग प्रयत्न कदापि नहीं वह तो केवल उस काल के वातावरण का प्रभाव था जिससे घन-आनन्द ने बचने का प्रयत्न किया था। लेकिन इस अवस्था में भी उनके ऊपर उस काल की प्रवृत्तियों के कुछ छुँटे अवश्य पड़े। यदि घनानन्द के काव्य को पूर्ण रूप से देखा जाय तो उनके काव्य में भक्त कवियों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। उनके पद भक्त कवियों का ही अनुकरण है। लेकिन यदि उनकी अन्य रचनाओं पर प्रकाश डाला जाय तो वह शृंगारी कवि ही प्रतीत होते हैं। शुक्लजी के शब्दों में उन्होंने काव्य के आन्तरिक पक्ष की ओर ही अधिक ध्यान रखा इस कारण इन पर वह दोष नहीं लगाया जा सकता जो रीतिकालीन कवियों पर लगाया जाता है।

घनानन्द ने काल की धाराओं के उदात्त रूपको ही अपनाया। उन्होंने शृङ्गार रस में ही काव्य की रचना की किन्तु शृंगार के उदात्त रूप को ही उन्होंने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि शुक्ल जी ने उनको रीतिकाल के स्वच्छन्द कवियों में घोषित किया। उनकी कलाको भावनाप्रधान माना। बाह्यपक्ष की सजावट की प्रधानता से घनानन्द की कविता को मुक्त माना और उन्होंने अतः वृत्तियों के चित्रणों का सांगोपांग रूप घनानन्द की कवित्ता में ही बतलाया—

रीतिकालीन कवियों में यह उस परम्परा में आयेंगे जो प्रेम की उमंग के कारण ही कविता लिखते हैं। उन पर किसी राजा और सामंत का प्रभाव नहीं था। घनानन्द, ठाकुर और बोधा की रचनाओं में प्रेमोल्लास को ही अधिक महत्व दिया गया इसलिये इनको हम वही स्वतन्त्र स्थान देंगे जो मुसलमान कवि रसखान को भक्तिकाल में मिला है।

घनानन्द की शृंगार भावना

शृङ्गार-रस की महत्ता—

[आचार्यों ने शृङ्गार रस को सम्पूर्ण रसों में प्रमुख माना है और इस प्रकार इसका रसरাজत्व स्वीकार कर लिया है।] यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो शृङ्गार-रस की व्यापकता अन्य रसों की अपेक्षा अधिक है भी [मानव हृदय की मूल भावना प्रेम ही है जो कि शृङ्गार-रस का मूलाधार है। सम्पूर्ण सृष्टि का विकास इसी प्रेम अथवा रति नामक भाव का ही परिणाम है। शिशु अपने प्रारम्भिक जीवन में अपनी माँ के प्रति प्रेम करने लगता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियों का विकास अभी तनिक भी नहीं हुआ किन्तु फिर भी वह अपनी माँ को न जाने किस दैवी प्रेरणा से प्रेम करता है। माँ के स्पर्श मात्र से ही वह समझ लेता है कि यह उसकी स्नेहमयी जननी है और यदि अन्य कोई उसको अपनी गोद में लेता है तो वह तुरन्त ही रो कर यह स्पष्ट कर देता है कि यह उसकी माँ नहीं। पशु पक्षियों में भी सर्व प्रथम रति-भाव का ही उदय होता है। गाय का बच्चा अपनी माँ की अनुपस्थिति में चिल्लाने लगता है। चिड़ियों के बच्चे अपनी माँ के आगमन पर घोंसलों में चीं चीं करके अपने प्रेम को व्यक्त करते हैं। सम्पूर्ण चराचर में इस प्रेम तत्व की ही सत्ता भासित हो रही है। भरत, रुद्रट आदि आचार्यों ने इस की महानता को स्वीकार किया है। पं० रामदहिन मिश्र ने काव्यदर्पण में शृङ्गार-रस के विषय में भरत आदि विद्वानों के मत को इस प्रकार प्रकट किया है—“तौ रसों में शृङ्गार रस की प्रधानता है। भरत आदि आचार्यों ने इसकी प्रथम गणना की है। इसे आदि रस भी कहते हैं और रस-राज भी। कारण यह है कि इसकी तीव्रता और प्रभावशीलता सब रसों में बढ़ी चढ़ी है। दूसरी बात यह है कि काम विकार सर्व-जाति सुलभ, हृदयाकर्षक तथा अत्यन्त स्वाभाविक है। इस रस के प्रभाव में महामुनियों के

हृदय भी बदल गये है। उनका आसन डगमगा गया है। इसीलिए आचा कहते हैं कि नियमतः संसारियों को शृङ्गार-रस का अनुभव होता है। अपनी कमनीयता के कारण यह सब रसों में प्रधान है।.....

नव रस सब संसार में नव रस में संसार।

नव रस सार सिंगार रस युगल सार शिंगार॥

खट्ट कहते हैं कि शृङ्गार रस आवाल-वृद्ध में व्याप्त है। रसों में कोई रस नहीं जो इसकी सरसता को प्राप्त कर सके।”

शृङ्गार रस के आलम्बन नायक और नायिका ही निश्चित हैं जब कि अन्य रसों में इस प्रकार की कोई निश्चित बात नहीं। यही मुख्य कारण है जिससे मनुष्य का हृदय इस रस में जितनी स्वाभाविकता से रमता है उतना अन्य रसों में नहीं। मानव हृदय में रतिभाव सर्वदा उस परिपक्व दशा में है जो तनिक भी सहारा पाकर उद्दीप्त हो जाता है। अन्य रसों को उद्दीप्त करने में तथा उन के अनुकूल स्थित उत्पन्न करने में कलाकार को अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। नायक और नायिका इस आदि रस में अन्योन्याश्रित है। उनके पारस्परिक प्रेम के परिणाम स्वरूप ही शृङ्गार रस का परिपाक होता है। शृङ्गार-रस ही एक ऐसा प्रमुख रस है जो मानव जीवन को सम्पूर्ण परिस्थितियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है जबकि अन्य रसों में यह स्थिरता नहीं। वीर, करुण आदि अन्य रस एक विशेष स्थिति में उत्पन्न होकर तिरोहित हो जाते हैं। किन्तु प्रेम का साम्राज्य असीम है। यह कभी भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता। प्रेम की इस महत्ता का प्रतिपादन नन्ददास जी ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है—

प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहिं जइये।

प्रेम बन्धौ संसार प्रेम परमारथ पइये॥

संसार का सम्पूर्ण कार्य-व्यापार प्रेम पर ही अवलंबित है।

काव्यगत सौन्दर्यः—सौन्दर्य की ओर आकर्षण ही प्रेम का मूल कारण है। सौन्दर्यानुभूति ही मनुष्य को आदि काल से आकर्षित करती रही है। आदि कवि बाल्मीकि से लेकर आधुनिककाल तक काव्यानुभूति का मूल कारण सौन्दर्य

ही रहा है और उसी को देखकर कवि का हृदय भावातिरेक में थिरक उठा है । सुन्दर ही काव्य का विषय है असुन्दर नहीं । यदि असुन्दरता का चित्र काव्य में प्रस्तुत किया गया है तो वह भी केवल सुन्दरता की अतिशयता को प्रकट करने के ही लिये । काव्य में बाह्य सौन्दर्य ही नहीं वरन् आन्तरिक सौन्दर्य को प्रमुख स्थान दिया जाता है । बाह्य-सौन्दर्य केवल पृष्ठ भूमि के रूप में प्रस्तुत होकर उस हृदय-गत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में अधिक उत्कर्ष लाता है । केवल बाह्य-सौन्दर्य का निरूपण काव्य में अपेक्षित नहीं । काव्य में कलाकार संसार के आन्तरिक-सौन्दर्य को ही व्यक्त करके अमर कलाकार बनता है । यही कारण है कि महाकवियों की रचनाओं में हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों को ही अधिक अङ्कित किया गया है । रीतिकाल की कविता में बाह्य सौन्दर्य की ओर कवियों का ध्यान अधिक रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि उस काल की कविता उच्च कला के आसन पर आसीन न हो सकी किन्तु भक्तिकाल के महाकवियों ने बाह्य सौन्दर्य के साथ २ उस आन्तरिक सौन्दर्य की पतों को भी खोल कर रखा जो प्रत्येक मनुष्य का रसानुभूति प्रदान करने में सहायक होते हैं । सूर और तुलसी ने अपने काव्य में सौन्दर्य के आन्तरिक तत्वों को ग्रहण किया और हिन्दी साहित्य के सूर और चन्द्रमा बनकर आज भी प्रकाशित हो रहे हैं ।

शृङ्गार-रस की परम्परा—

शृङ्गार-रस के महत्व का प्रतिपादन भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में ईसा से पूर्व ही कर दिया था । शृङ्गार का उदय मानव में सर्व प्रथम हुआ । काम-वासना मनुष्य की सर्व प्रथम वासना थी और इसी वासना का परिणाम सृष्टि का विकास है । साथ ही नारी के प्रति आकर्षण ही इस रस का मूल कारण है । अग्नि पुराणकार ने भी शृङ्गार को आदि रस स्वीकार किया है—

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभूम्,
 आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते राट्वाव्यन,
 व्यक्तिः सातस्य-चैतन्य चमत्कार रसाद्वया,
 आधस्तस्य विकारोयः सोहंकार इतिस्मृतः
 ततोभिमानस्तत्रेदं समासं भुवनत्रयम्,

अभिमानाद्रति सा चपरिपोषमुयेयिषु,
 रागाद्रभवति शृङ्गारौ रोद्रस्तेण मान् अजायते,
 वीरोवष्टम्मजः संकोचभूर्वो भत्स इष्यते,
 शृंगाराजायते हासौ रोद्रानु करुणोरसः
 वीराच्याद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बोभत्साद् भयानकः

उपयुक्त उद्धरण में रति की उत्पत्ति ममता संकलित अभिमान से मानी गई है और रति के द्वारा ही शृंगार-रस की उत्पत्ति होती है ।

काव्य दर्पणकार ने भी शृंगार-रस के महत्व का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

शृंगहि मन्मथोद्भेदस्तदाग मनहेतुकः

उत्तम प्रकृति प्रायो रसःशृंगार इष्यते

(समाज में आदिकाल से ही स्त्री के प्रति पुरुष का आकर्षण और पुरुष के प्रति स्त्री का आकर्षण एक प्राकृतिक नियम है । स्त्री के सौन्दर्य का चित्रण काव्य में प्राचीन काल से रहा है किन्तु सामाजिक नियमों की जटिलता स्त्री के पक्ष में उतनी उदार नहीं रही । स्त्री को भी पुरुष आकर्षक लगता है किन्तु इस सत्य को वह काव्य में स्पष्ट नहीं कर सकती । यही कारण है कि स्त्री अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को उस स्वतन्त्रता से प्रकट नहीं कर सकी जिस प्रकार कि मनुष्य प्रकट कर सकता है) मीरा आदि कवियत्रियों की अभिव्यक्ति आध्यात्मिकता के आवरण में ही हुई । उन्होंने ईश्वर के प्रति ही अपने नारी हृदय के प्रेम का समर्पण किया । किन्तु पुरुष ने स्त्री को अधिकतर उसके लौकिक आधार पर ही रखकर देखा । कालिदास से लेकर आज तक अनेकों कवियों ने शृङ्गार-रस का आधार प्रमुख रूप से नायिका को ही रखा । उन्होंने संयोग और वियोग के दोनों पक्षों में नायिका के हृदय के भावों की अभिव्यक्ति की । शृङ्गार रस का स्रोत साहित्य में किसी न किसी रूप में प्रवाहित होता रहा । वीर गाथा काल और भक्तिकाल में भी शृङ्गार-रस का लोप नहीं हुआ वरन् उसकी धारा इनके दोनों रसों समानान्तर बहती रही जो रीतिकाल में अपने पूर्ण विकास पर पहुँच गई ।

कालिदास ने मेघदूत में जो शृङ्गार रस की सरिता प्रवाहित की वह अनुपम थी । यक्ष की वियोग जनित वेदनाओं को जिस भावुकता के साथ महाकवि कालिदास ने अपने काव्य में अङ्कित किया वह अपनी समानता नहीं रखता—

नीबी बन्धोच्छ्रुसित शिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षियत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा—
न्हीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥

सम्पूर्ण मेघदूत शृङ्गार के अनुपम वर्णनों से ही भरा पड़ा है । वियोगी यक्ष ने अपने हृदय के समस्त उद्गारों को इस काव्य में प्रकट किया है ।
सौन्दर्य का जो चित्र कालिदास के मेघदूत में मिलता है अन्यत्र दुर्लभ है ।
यक्ष अपनी पक्षिणी के सौन्दर्य का चित्रण उपस्थित करता है—

तन्वी श्यामा शिखरि दशना पक्व बिम्बाधरोष्ठी,
मध्येक्षामा चकित हरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः
क्षोणीभारा दलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टि राचेव धातुः ॥
तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मपि सहचरे चक्रवाकी मिवैकाम
गाढोत्कंठा गुरुषु दिवसेष्वेपुगच्छत्सु बालां
जातामन्ये शिशिर मथितांपद्मिनी वान्य रूपाम् ॥

यक्ष के द्वारा उसकी पत्नी के सौन्दर्य का कितना सुन्दर चित्र कवि ने प्रस्तुत कराया है—‘वह कृशाङ्गी है, यौवनवती है, पैने दाँतों वाली है, पके बिम्बाफल के ओष्ठों वाली, कटि भाग में क्षीण, चकित हरिणी के नेत्रों वाली, गम्भीर नाभि वाली, नितम्बों के भार से आलस करके चलने वाली, कुर्चों के भार से कुछ-कुछ झुकी मानो युवतियों के मध्य में ब्रह्मा की पहली सृष्टि सी, मुझ साथी के वियुक्त हो जाने के कारण चकवी के समान अकेली रहने वाली, थोड़ा बोलने वाली, मेरे प्राणों की प्यारी अथवा मेरा ही हृदय,’ प्रेम की प्रतिभा तथा इन

वियोग के कठिन दिनों में शिशिर से कमलिनी की सी कान्ति वाली वह सुन्दरी हो गई है ।

संस्कृत के महाकवि श्री हर्ष ने शृङ्गार के चित्रण में अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया । दमयन्ती के रूप सौन्दर्य को प्रस्तुत करते हुए कवि ने उसके स्तनों का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह इस बात का प्रमाण है कि संस्कृत साहित्य में शृङ्गार रस को कितनी प्रमुखता मिल चुकी थी—

कलसे निज हेतु दण्डजः किमुचक्रभ्रमकारिता गुणः ।

स तदुचकुचौ भवन् प्रभाभरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥

हे नृप उस दमयन्ती के उच्च स्तनों को देख कर यह भ्रान्ति होने लगती है कि चक्रवाक पक्षी है अथवा लावण्य प्रभाव में घूमने वाले कुलाल दण्ड के निमित्त कलश हैं । अर्थात् दमयन्ती के विशाल स्तन घड़ों के समान तथा चक्रवाक पक्षी के समान हैं और उन स्तनों की चारों ओर जो कान्ति फैल रही है उससे यह ज्ञात नहीं होता है कि वे स्तन हैं वरन् कान्ति पुंज में घूमने वाला प्रभारथ है ।

संस्कृत साहित्य में शृंगार का पद्य के अतिरिक्त गद्य में भी महत्व मिला । वाणभट्ट जैसे महाकवि ने तो संस्कृत गद्य में भी शृङ्गार रस की अजस्रधारा बहा दी । राजा तारापीड का वर्णन करते समय महाकवि कहता है—‘तथाहि कटाचिदुल्लसत्कठोर-कपोल-पुलक-जर्जरित-कर्णपल्लवानां प्रणयिनीना चन्दन-जल-च्छटाभिरिव स्मित-सुधाच्छविमिरमिषिच्यमानः ; कर्णांतपलैरिव लोचनांशुभिस्ताड्यमानः, कुंकुमधूलिभिरिवाभरणप्रभाभिराकुलीक्रियमाण-लोल-लोचनः, धवलांशुकैरिव कर-नख-मयूख-जालकैराहन्यमानः चम्पक-कुसुम-दल-मालिकाभिरिव भुजलताभिरावध्यमानः, दण्डाधर-धूत-करतल-चलन्मणिवलय-कलकलरमणीयम्, भतिरभसदलित-दन्त-पत्र-दन्तुर शयनम्, उत्क्षिप्त चरणतल गल-दलक्तकलक्तशेखरम् सरभस-कांच-ग्रहचूणिता मणिकर्णपूरम्, उल्लसितकुच-कृष्णगुरुपङ्क-यत्न-लतांकित प्रच्छदपटम्, अच्छभ्रमजल लुलित गोरोचना तिलकरत्न-भङ्गम् अनंगवरवशः सुरतमाततान ।’

अर्थात् जिस समय राजा चन्दन जल की धारा के समान प्रिय युवतियों के

सुधामय ईषदहास्य के शोभाजल से अभिषिक्त होता था उस समय उन प्रियाओं के कपोलों पर अत्यधिक रोमांच उत्पन्न होकर कर्ण के पल्लवों को जर्जरित करता था । कोई-कोई प्रिययुवती, तीव्र कटाक्ष-प्रहार करने के समय में कर्ण के नीलोत्पल के समान नयन-किरण द्वारा राजा को ताड़न करती थी । केसर के धूलि समूह के समान किसी-किसी युवती के आभूषण की प्रभा से राजा के नयन युगल प्रतिहत होकर चंचल भाव को ग्रहण करते थे । शुभ्रवसन के समान किसी युवती के अपने हस्तस्थित नख समूह के किरण पुंज द्वारा राजा आहत होता था । कोई-कोई युवती चम्पा की फूल पत्तों की माला के समान कोमल वाहुलता में राजा को बाँध लेती थी । इस प्रकार कामवश होकर सुरत क्रीड़ा करता था जो कि प्रियाओं का अधर दंश होने से काँपते हाथों में हिलते मणिमय कंकणों के कलकल से रमणीय लगती थी । अत्यन्त वेग में टूटे हुए कर्ण भूषण के टुकड़ों से शैया ऊँची नीची हो जाती थी, ऊँचे चरणों में किये हुये अलक्तक से मस्तक लाल-लाल हो जाता था । स्तनों का राजा के कर स्पर्श से स्फुरित हो जाने से उन पर काले अग्रर के लेप से रची पत्रलता से ऊपर का वस्त्र अंकित हो जाता था, निर्मल पसीने की महीन महीन बूँदों से गोरोचन के तिलक और पत्रभंग बिगड़ जाते थे ।

संस्कृत साहित्य के लक्षण ग्रन्थों में जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये उनमें धोर शृङ्गार परिलक्षित होता है । मम्मटाचार्य जैसे विद्वान ने अपने काव्य-प्रकाश नामक ग्रन्थ में अधिकतर जो उदाहरण दिये उनमें शृङ्गार-रस का ही प्राधान्य है । एक नायिका अपने प्रेमी के प्रति कहती है—

यः कौमारहरः स एव हिवरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मोलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ,
रेवारोधसि बेतसीतस्तले चेतः समुत्कण्ठते ॥

कोई नायिका अपनी दूती को अपने नायक के समीप भेजती है कि उसका सन्देश पहुँचावे किन्तु नायक उसे वहाँ रोककर उसके साथ बिहार करता है । दूती नायिका को उस नायक के विषय में झूठी खबर आकर देती है । किन्तु

नायिका उसके स्तनों से चन्दन आदि के धुल जाने से उस पर सन्देह करके कहती है—

निशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो—
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याशातपीडागमे,
वापीस्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्यऽधममस्यान्तिकम् ॥

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में शृङ्गार की ही प्रधानता है । संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी शृङ्गार रस को ही अधिक महत्व दिया गया । किसी न किसी रूपमें शृङ्गाररस उस काल के समस्त ग्रन्थों में मिलेगा ।

सतसइयों और शतकों में भी शृंगार रस के ही दर्शन मिलते हैं । प्रथम शताब्दी की गाथा सप्तशती में शृंगार रस की प्रधानता है—

हल्लफल हण पसाहि आणँ क्षण वासरे सबत्तीणम् ।
अजाएँ भजणाण अरेण कहिअं सोहगम् ॥
(गाथा ११७६)

इसी के अनुकरण पर बिहारी का निम्नलिखित दोहा है जो इसी प्रकार के भाव को रखता है—

तीज परब सौतिन सजे, भूषण वसन शरीर ।
सबै मरगजे मुँह करी, वहै मरगजे चीर ॥

आर्या सप्तशती और अमरकशतक में भी शृंगार की ही प्रधानता परिलक्षित है—

चिकुर विसारण तियहँनतकण्ठी विमुख वृत्तिरपिवाला ।
त्वामियमङ्गलिकल्पित कचावकाशा विलोकयति ॥
(आर्या २३१)

अमरक शतक में भी शृंगार रस के ही दर्शन होते हैं । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य और प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में ही शृङ्गार का रसराजत्व स्वीकार किया जा चुका था । हिन्दी साहित्य में जो

शृङ्गार रस के दर्शन होते हैं वह कोई नवीन मार्ग का अवलम्बन नहीं बरन् प्राचीन परम्परा का ही पिष्टपेषण है ।

ब्रजयान के प्रभाव से भी शृङ्गार की प्रधानता को काव्य में प्रोत्साहन मिला । जिसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर स्पष्ट है । कौलधर्म का सिद्धान्त वाक्य शृङ्गार को ही प्रधानता देता है—

‘बामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रम्’

जयदेव ने तो हरिस्मरण का मार्ग ही विलास कला को मान लिया । बिद्यापति ने भी अपने काव्य में शृङ्गार-रस को ही अपनाया ।

हिन्दी के आदि काल में वीर रस की कविता का प्राधान्य अवश्य रहा । किन्तु शृङ्गार रस भी उसके साथ साथ चलता रहा । यदि चन्दबरदाई ने ‘बज्रिय घोर निसान रान चहुआन चहुँदिस’ आदि वीर-रस की कविता लिखी तो साथ ही उन्होंने यह भी लिखा—

‘मनहुँ कला ससि भानु कला सोरह सो बन्निय ।

भक्तिकाल में आकर शृङ्गार के रूप को आध्यात्मिक रंग मिला । जायसी कबीर आदि ने प्रेम और ज्ञान के आवरण से शृङ्गार को ढंककर देखा । तुलसीदास और सूरदास ने भी शृङ्गार को संयत भाव से ही देखा । इतना अवश्य रहा कि रामकाव्य में शृङ्गार का भी एक मर्यादित रूप ही रखा गया किन्तु कृष्ण-काव्य में प्रेम की प्रधानता के कारण अथवा राधा और कृष्ण की विलास क्रीड़ाओं के कारण शृङ्गार के लौकिक पक्ष को ही महत्व दिया गया और उसको ही आध्यात्मिक रूप दिया गया । कृष्ण को ब्रह्म और गोपियों को आत्मा के रूप में रख कर शृङ्गार की लौकिकता को अलौकिकता में परिवर्तित कर दिया गया । इस अलौकिकता के कारण घोर से घोर शृङ्गार भी श्लील ही माना गया । सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के संयोग वर्णन भी धार्मिक रूप में ही स्वीकार किये गये ।

रीतिकाल में आकर कृष्ण के उस असामान्य रूप को एक सामान्य रूप में परिवर्तित कर दिया तथा गोपियों का स्थान अनेकों नायिकाओं ने ग्रहण कर लिया । लौकिक शृङ्गार को ही प्रधानता दे दी गई । अश्लील चित्रों के द्वारा

ही कवि लोग अपने आश्रयदाताओं की कुत्सित मनोवृत्ति को तृप्त करने लगे । संस्कृत साहित्य के लक्षण ग्रन्थों एवं सतसई आदि शृङ्गार प्रधान रचनाओं को आधार मान काव्यधारा प्रवाहित हो चली । संयोग के अश्लील चित्रों की ओर रीतिकालीन कवियों का ध्यान अधिक रहा । विरह वर्णन में ऊहात्मक वर्णन और चमत्कार का समावेश कर दिया गया विरह की नाप तोल की ओर ही इस काल के कवियों का ध्यान अधिक रहा । अन्तर्वृत्तियों को इनके काव्यों में उतना स्थान नहीं मिला जितना वाह्य-व्यापारों और क्रिया-कलायों को दिया गया । किन्तु बहुत से लोगों के इस प्रकार प्रवाह में बह जाने पर कुछ इस प्रकार के लोग भी थे जो अधिक विचार-शील थे और जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को इस प्रवाह में बहाया नहीं । घनानन्द, ठाकुर और बोधा इसी प्रकार के स्वतंत्र चेता थे ।

घनानन्द का संयोग-शृङ्गार—

घनानन्द का काव्य भी पूर्ण रूपेण शृङ्गार रस से ही प्लावित है । शृङ्गार की भावराशि इनके काव्य में भरी पड़ी है । संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इनके काव्य में समावेश है । किन्तु वियोग की अन्तर्दशाओं को ही इस सुजान के वियोगी ने अधिक महत्व दिया । सूरदास ने भी अपने काव्य में संयोग और वियोग दोनों का समन्वय किया है । उनके प्रेम में रूप लिप्सा और साहचर्य्य दोनों का योग है । बालक्रीड़ा के सखा सखी यौवन क्रीड़ा के सखा सखी हो जाते हैं । किन्तु घनानन्द के प्रेम में रूपलिप्सा का योग तो अवश्य है किन्तु साहचर्य्य का उतना विस्तृत वर्णन नहीं जितना सूर के काव्य में मिलता है । संयोग पक्ष में कृष्ण की लीलाओं को उतनी प्रमुखता नहीं दी गई, न उनकी यौवन कालीन क्रीड़ाओं को ही अधिक महत्व दिया गया है । इतना अवश्य है कि रूप के माधुर्य के कारण ही कृष्ण की ओर गोपियों का आकर्षण होता है । घनानन्द ने कृष्ण की रूप माधुरी का वर्णन किया है और उसी भावुकता और तल्लीनता से किया है जिससे अन्य कृष्ण भक्त कवियों के काव्यों में पाया जाता है :—

मोर चन्द्रिका सिर धरें, गरें गुंज की माल ।
 धातु चित्र कटि पीतपट, मोहन मदन गुपाल ॥
 अति कमनीय किसोर बपु, गोपीनाथ उदार ।
 कमल नैन क्रीड़ा निपुन, कान्हर गोप कुमार ॥
 काम केलि क्रीड़ा कुसल, कलानाथ रसवन्त ।
 गोवरधन वासी सदा, गोप-कामिनी-कन्त ॥
 लहलहानि-जोवन उदै, ब्रजमोहन अंग अंग ।
 महारूप सागर उमगि, उठति अमोघ तरंग ॥

श्याम का रूप रूपी अंजन ही घनानन्द की राधा के नेत्रों में लगता है ।
 घनानन्द की गोपियाँ भी मुरली की मधुर ध्वनि की ओर आकर्षित होती हैं ।

(घनानन्द ने राधा की रूप माधुरी को भी संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत दिख-
 लाया है । उनके शरीर की ओर ही कवि का ध्यान नहीं रहा वरन् उनके हाव
 भाव और चेष्टाओं को भी सूक्ष्म दृष्टि से चित्रित किया है) राधा की चितवन
 लज्जा के आवरण से युक्त और गम्भीर भावों से पूर्ण है । उसकी कटाक्ष पूर्ण
 आँखें अत्यन्त ही चंचल और सुन्दर हैं । राधा का मुख सौन्दर्य की निधि है,
 उसका मस्तक भी रुचिर है । जिस समय वह स्मित का प्रसार करती है उस
 समय रस धीरे २ निचुड़ने लगता है । जिस समय राधा हँसती है उस समय
 ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके वक्षस्थल पर पड़ी मोती की माला संभवतः
 उसकी हँसी की ही चमक है ! इस प्रकार चंचल राधा का एक एक अङ्ग और
 उसकी चेष्टायें यह प्रदर्शित करती हैं कि उसके अङ्ग में अनङ्ग का रङ्ग पूर्णरूप
 से व्याप्त है—

✓ लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाव भरी
 (१) लसति ललित लोल चख तिरछीन में ।
 छवि को सदन गोरो वदन, रुचिर भाल,
 रस निचुरत मीठी मृदु सुसक्यान में ॥
 दसन दमकि फैलि हियें मोती माल होति,
 पिय सों लड़कि प्रेम पगी बतरानि में ।

आनन्द की निधि जगमगति लुबीली बाल

अंगनि अरंग-रंग दुरि मुरजानि में ॥

इसी प्रकार प्रेम में लुकी राधा का एक और चित्र घनानन्द की शृङ्गार प्रियता को स्पष्ट करने को पर्याप्त है—

लुलकै अति सुन्दर आनन गौर, लुके दृग राजत काननि व्छै ।

हँसि बोलन में लुवि फूलन की, वरषा उर ऊपर जाति है हँ ।

लट लोल कपोल कलोल करै, कलकंठ बनी जलजावलि द्वै ।

अङ्ग अङ्ग तरंग उठै दुति की, परि है मनो रूप अबै धरचै ॥

सूरदास के काव्य में कृष्ण और राधा का प्रेम रूप की ओर आकर्षित होने पर ही हुआ था—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी

गये स्याम रवितनया के तट अङ्ग लससि चन्दन की खोरी

औचक ही देखी तहँ राधा नैन विसाल भाल दिये रोरी

सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी

कृष्ण ने राधा से प्रश्न किया कि हे गोरी तुम कौन हो, कहाँ रहती हो और किसकी बेटी हो । राधा इस पर अपने कुल का गौरव प्रदर्शित करते हुए कहती हैं—

‘काहे कौं हम ब्रजतन आवति खेलत रहति आपनी पौरी’

इस प्रकार का संभाषण घनानन्द के कृष्ण और राधा में तो नहीं मिलता । हाँ एक स्थान पर एक गोपी और कृष्ण का संभाषण अवश्य कराया गया है जिसमें गोपी ओर कृष्ण एक दूसरे से व्यंग्यात्मक शैली में वार्तालाप करते हैं—

गोपी—छैल नये नित रोकत गैल सुफैलत कापै अरैल भये हो ।

लै लकुटी हँसि नैन नचावत बैन रचावत मैन—तए हौ ।

लाज अँचै बिन काज खगौ तिनहीं सों पगौ जिन रंग रए हौ ।

एँइ सवै निकसैगी अबै घनआनन्द आनि कहा उनए हौ ॥

किन्तु घनानन्द के कृष्ण भी चुप होने वाले नहीं थे। उन्होंने गोपी से स्पष्ट कह दिया कि तू क्या यह हमारी नई चाल देखती है। तू हमारी अकड़ को क्या ताना मारती है ? तुझे क्या अपने बड़े २ नयनों का गर्व है जो इस प्रकार की उक्तियाँ कहती है। आज तुझे बिना कर लिये नहीं जाने दूंगा। पहले बचकर निकल गई है आज तो अपना अभीप्सित पूरा करके ही छोड़ूँगा-

हैं उनए सु नए न कछू, उघटै कत ँड़ अमैड़ अयानी ।
बैन बड़े २ नैनन के बल बोलति क्यों है इती इतरानी ।
दान दिये बिन जान न पाइ है आइहै जो चलि खोरि बिरानी ।
आगे अछूती गई सो गई घन आनन्द आजु भई मनमानी ॥

गोपी और कृष्ण के इस संवाद में कवि ने जिस प्रेम की व्यञ्जना की है वह अत्यन्त ही भावुकता पूर्ण है। व्यंग के द्वारा कृष्ण ने उसकी आँखों की प्रशंसा की है उसमें कृष्ण के आकर्षण का पता चलता है।

घनानन्द के संयोग पद्य में रीतिकालीन कवियों की तरह तहखाने खसखाने का विलास नहीं। न घनानन्द की प्रेयसी को गुरुजनों के बीच में प्रिय को सिर से कमल लगाकर अपने प्रेम की पुष्टता की दुहाई देनी पड़ती है और न उसकी राधा आरसी में कृष्ण का प्रतिबिम्ब देखकर प्रेम की दृढ़ता का विश्वास दिलाने का ही कोई उपक्रम करती है। घनानन्द की राधा तो कृष्ण के प्रेम में इतनी पगी है कि उसको तो केवल कृष्ण की रूपमाधुरीको देखकर उत्तम विभोर होने में ही आनन्द आता है। और आये भी क्यों न ? घनानन्द के कृष्ण भी साधारण कृष्ण नहीं वह तो सुजान ही हैं। उनको तो कवि उसी प्रकार प्रेम करता है जिस प्रकार कि चातक बादल को करता है। घनानन्द के प्राणों को तो कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। वह तो अपनी बुद्धि, स्मृति, नेत्र, और वाणी को कृष्ण के ऊपर ही न्यौछावर कर चुके हैं। इनका काम कृष्ण के विषय में ही सोचना, उन्हीं के रूप सौन्दर्य का पान करना और उन्हीं के गुणों का उच्चारण करना है—

मन जैसे कछु तुम्हें चाहत है सु,
बखानिए कैसे सुजान ही हो ।

इन प्राननि एक सदा गति रावरे
 बाबरे लौं लागि है नित लौं ॥
 बुधि औ मुधि नैननि बैननि में
 करि बास निरन्तर अन्तर गौ ॥
 उघरौ जग छाय रहे घन आनँद,
 चातिक त्यों तकियै अब तो ॥

घनानन्द का ध्यान संयोग के उन प्रभावपूर्ण स्थलों की ओर ही अधिक रहा है जिनका सम्बन्ध हृदयगत भावों से अधिक है। संयोग वर्णन में जिस प्रकार रीतिकाल के कवि संकेतस्थल और मरगजी माला की ओर ही अपने ध्यान को अधिक आकर्षित करते थे उस प्रकार घनानन्द ने नहीं किया। उनके काव्य में तो आन्तरिक प्रभावों का ही अधिक दिखलाया गया है। घनानन्द की नायिका की सुन्दरता को देखकर छवि भी लज्जित है। अन्य कवियों की प्रेमिकायें 'लाड़' (प्रेम) पाकर लाड़ली बनती हैं किन्तु घनानन्द के काव्य में प्रेमिका का शरीर ही लाड़ से निर्मित किया गया है—

तेरी निकाई निहारि छकें
 छवि हू को अनूपम रूप कढ्यो है।
 ईटि हूँ टीटि पै नीटि कटाछनि
 आप मनोज कौ चोज बढ्यो है ॥
 आनँद के घन राग सों पागि,
 सुजान सुहागहि भाग बढ्यो है।
 लाड़ ते लाड़िली होति है और,
 पै तो तन लाड़हि लाड़ चढ्यो है ॥

(कृष्ण और राधा होली के रँग में व्यस्त हैं। राधा की अलकें सुगन्धि से युक्त होकर उसके मुख पर बिखरी हैं। यौवन की दीप्ति से चन्द्रमा भी फीका लगता है। राधा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में जो शोभा है उसके सन्मुख सम्पूर्ण उपमान

हेय हैं। राधा मोहन के साथ फाग खेल रही हैं जिसे देखकर गोपियाँ आनन्द से पुलकित होकर अपने वस्त्रों को गीला कर लेती हैं—

सौधै सनी अलकैं बगरी मुख,
जोवन जोति सों चन्दहि चोरति ।
अंगनि रंग - तरंग बढ़ी सु,
किती उपमानि के पानिय दोरति ॥
मोहन सों रस - फाग मची,
सु भली भई हों कबतें ही निहोरति
आनंद के घन रीभनि भीजि,
भिजै पटई कहा चीर निचोरति ॥

कृष्ण के प्रेम में गोपियाँ तन्मय हैं। उनके नैन और बदन में कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गोपी गोरस बेचते-बेचते अपने प्रेम की अतिशयता में मोहन को बेचने लगती हैं—

एक डोलै बेचति गोपालहिं दहेंडी धरै,
नैननि समान्यौ सोई बैननि जनात है ।

×	×	×
×	×	×

गोकुल-बधून की बिकानि पै बिकाय रहे,
गोरस हँ गली-गली मोहन बिकात है ॥

प्रियतम के प्रेम में भरी गोपिका इतनी सुन्दर लगती है कि उसकी समानता कहीं खोजने पर भी नहीं मिलती। वह अत्यन्त प्रसन्न है। प्रेम के खेल की खिलाडिनी है। डफ बजाकर गाली गाती है। प्रेमिका अत्यन्त ही सुकुमार है। जब वह मन्द गति से चलती है तो उरोजों के भार से उसकी कटि लचक जाती है। उसके पैरों के टखनों को देखकर हग घायल हो जाते हैं—

पिय के अनुराग सुहाग भरी
 रति हेरै न पावत रूप-रफै ।
 रिझिवारि महा रसरासि-खिलार
 सु गावत गारि बजाय डफै ॥
 अति ही सुकुमारि उरोजनि भार
 भरै मधुरी डग लंक-लफै ।
 लपटै धन-आनन्द घायल है
 डग पायल छवै गुजरी गुलफै ॥

इस प्रकार के अनेकों चित्र धनानंद ने संयोग-पक्ष में दिखाये हैं । नायक नायिकाओं की प्रेम लीला सम्बन्धी अनेक सुन्दर और सूक्ष्म भावों को जिस मनोहरता के साथ इस भावुक कवि ने दिखाया है उस प्रकार का वर्णन रीतिकाल के ही नहीं वरन् कृष्णभक्ति-धारा के कवियों में भी एक दो कवियों में ही मिलेगा ।

रीतिकालीन कवियों के संयोग शृङ्गार में दूती और सन्धियों के द्वारा प्रेमी और प्रेमिकाओं के मिलन का प्रयत्न चलता रहता था किन्तु धनानंद के काव्य में प्रेम एक आन्तरिक भावना है । इसमें किसी प्रकार की चतुरता दिखाने की आवश्यकता नहीं । और न किसी प्रकार की वक्रता की ही आवश्यकता है । यह तो आत्मा की पुकार है और यदि शारीरिक मिलन नहीं होता तो उसकी तनिक भी चिंता नहीं । यहाँ तो आत्मा का और परमात्मा का मिलन है । इसे कोई भी नहीं रोक सकता । धनानंद स्वयं अपने इस प्रेम मार्ग का रूप स्पष्ट करते हैं—

अति सुखो सनेह कौ मारग है जहाँ नेक सयानप बाँक नहीं ।

जहाँ सुखे चलै तजि आपुनपौ भिभकै कपटी जे निसाँक नहीं ॥

धनानंद ने कृष्ण और राधा तथा अन्य गोपियों को संयोग-पक्ष के अन्दर अनेक क्रीड़ाओं में प्रवृत्त किया है । किंतु सूरदास के कृष्ण ने जितनी क्रीड़ाओं और लीलाओं में अपने संयोग काल को व्यतीत किया वह धनानंद में नहीं । लेकिन फिर भी कुछ क्रीड़ाओं का सुन्दर वर्णन उनके काव्य में मिलता है ।

संयोग-पक्ष में दानलीला, भूला और हिंडोले पर भूलना, होली के रंग में रंगना, बंशी निनाद, गोचारन आदि अनेकों लीलाओं को प्रदर्शित किया गया है। कृष्ण की वंशी, पीतपट आदि का सुन्दर चित्रण है। वंशी का जादू घनानन्द के सम्पूर्ण काव्य में भरा पड़ा है—

कैसे धीरज रहै हाथ हमें मुरली-ध्वनि बौरावै हो ।

बाँसुरी की तान ब्रज बालाओं की लज्जा का निवारण करके उनको प्रेम में रंग लेती है। वंशी की ध्वनि यमुना की गति को भी रोक लेती है—

मोहन के बदन मिटास भरी तानें भिदि,
मीठियै लगति जब मिलै सब डाटि लै ।
भोरी ब्रज गोरिनि की लाज-पात्र तोरि तोरि
गैल करि देति खेद बाधा खाई आटि लै ।
ऐसी विसवासिनि बजाय बैर बाढति है
काढति घरनि तें उपायनि उच्चाटि लै ॥
बाँसुरी की बाजनि बिराजै बन व्यापक है
देखौ गति जमुना की राखी राग पाटि लै ।

वृन्दावन की शोभा वैसे ही अत्यन्त रमणीय है और फिर उसमें कृष्ण का सौन्दर्य और भी चार चाँद लगा देता है। कृष्ण भी अकेले ही नहीं है उनके हृदय में राधा का सौन्दर्य विराजमान है—

स्याम यामें बसें यह बसै स्याम हिये सदा
तामें अब राधा बसै क्यों अब सो निहारिये ।

घनानन्द में प्रेमिका में यौवनांगमन के साथ २ आनन्द, उत्साह आदि नवीन भावनाओं को दिखलाया गया है—

ललित उमङ्ग बेली आल बाल अन्तर में
आनन्द के घन सीँची रोम-रोम है चढ़ी ।

आगम उमाह चाह छायाँ सु उछाह रंग
 अङ्ग अङ्ग फूलनि दुकूलनि परै कही ॥
 बोलति बधाई दौरि दौरि कै लुबीले दग
 दसा सुभ सगुनौती नीकें इनपै चढ़ी ।
 कंचुकी तरकि, मिलै सरकि उरजि, भुज,
 फटकि सुजान, चोप-चुहल महा बढी ॥

दृश्यों का 'दौरि दौरि' के बधाई देना कि यौवन रूपी महीपति का आगमन हो रहा है कितना सुन्दर और भावपूर्ण है । यौवनागमन पर नेत्रों में चंचलता का आना स्वाभाविक है । किन्तु कवि ने जिस दृङ्ग से यहाँ पर उसे प्रदर्शित किया है उससे नेत्रों के क्रिया-कलापों का चित्र उपस्थित कर दिया है ।

घनानन्द ने संयोग शृङ्गार में प्रियतम और प्रियतमा के संभोग एवं विलास के चित्रणों को भी स्थान दिया है । किन्तु उन चित्रणों में भी कवि की अन्तर्दृष्टि भाव के सागर के अन्तस्तल में बैठकर ही वृत्तियों के अनेक मोतियों की खोज कर रही है । ऊपरी सतह पर घनानन्द ने अपनी दृष्टि को कभी नहीं रखा । नायिका रात्रि को नायक के साथ विलास में प्रवृत्त रही । उस समय की शोभा का चित्रण घनानन्द की लेखनी ने कितना सुन्दर किया है—

रस आरस भोय उठी कहु सोय
 लगी लसैं पीक पगी पलकें
 घन-आनन्द ओप बढी मुख और
 सुपैलि गई । सुथरी अलकें ।
 अंगराति जैमाति लसै सब अङ्ग
 अनंगहि अंग दिये भलकै ।
 अधरानि में आधिय बान धरै
 लइकानि की आन परै ललकें ॥

प्रेमातिरेक से नायिका के नेत्रों के पलक झुक गये हैं । उसके मुख पर कुछ और ही प्रकार की दीप्ति व्याप्त होगई है जिसे कवि कहने में असमर्थ है । इस-

लिये ही उसने उसे 'और ही ओप' कहा है। वह कभी अँगड़ाई लेती है और कभी जैभाई लेकर अपनी तृप्ति का आभास दे रही है। उसके मुख से अस्फूट शब्द ही निकल रहे हैं। उसके मुख पर बच्चों का सा सारल्य झलक रहा है। उपर्युक्त सवैये में कवि की दृष्टि उन वाह्यव्यापारों की ओर नहीं गई जो कि नायक और नायिका के विलास के मध्य में हुये थे। और न वाह्य रूप-चित्रण को ही प्रधानता दी गई। कवि ने तो नायिका की आन्तरिक भावनाओं को उसकी चेष्टाओं, मुद्राओं और हावों के द्वारा प्रकट किया है। रीतिकालीन कवियों के समान न यहाँ दीपक बुझाने का अश्लील चित्रण है और न यहाँ नायिका की कर्धनी आदि आभूषणों की ध्वनि के द्वारा किसी अश्लील भावना को पुष्ट किया गया है। घनानन्द के संयोग वर्णन में तो उन प्रभावों का ही चित्रण है जिसका सम्बन्ध हृदय से है। बिहारी में भी संयोग-वर्णन में इस प्रकार के आन्तरिक भावों को नायिका की चेष्टाओं और हावभाव के द्वारा ही स्पष्ट किया गया है। उन्होंने वाह्य चित्रणों में अपने हृदय को रमाया है किन्तु बहुत ही कम स्थानों पर। महाकवि बिहारी में आन्तरिक भावनाओं को भी कहीं कहीं अधिक महत्व दिया है—

भौंहनि त्रासति मुख नदति, आँखिन सों लपटाति ।

ऐँचि लुड़ावति कर ईँची, आगे आवति जाति ।

इसी प्रकार विलास के पश्चात् के एक चित्र को देखिये—

रंगी सुरत रंग पिय हिये, लगी जगी सब राति ।

पैड़ पैड़ टटकि चलै, ऐँड़ भरी ऐँड़ाति ॥

घनानन्द ने भी इसी प्रकार आन्तरिक भावों को वाह्य-चेष्टाओं द्वारा ही व्यक्त किया है। साथ ही शृङ्गार भावना को परिपुष्ट करने के योग्य ही कोमल-कान्त पदावली भी है—

मुख स्वेद कनी मुखचन्द बनी

बिथुरी अलकावलि भौँति भली ।

मद जोबन रूप लुकी अँखियाँ

अवलोकनि आरस रंग रली ।

घनआनँद ओपति ऊँचे उरोजनि,
 चोज मनोज के ओज दली ।
 गति दीली लजीली रसीली लसीली
 सुजान मनोरथ बेलि फली ॥

संयोग की चेष्टाओं का एक और चित्र कितनी सफलता पूर्वक चित्रित किया गया है। संचारी भावों को किस स्वाभाविकता के साथ दिखाया है। संयोग में प्रेम की तल्लीनता और विभोरता का इतना सुन्दर चित्रण महाकवि की लेखनी ही कर सकती थी। प्रेम भाव को नेत्रों के सम्मुख इस रूप में चित्रित किया है कि मानो सम्पूर्ण बातों का चित्र ही उपस्थित कर दिया हो—

सोये हैं अङ्गनि अङ्ग समाये,
 सुभोए अनङ्ग के रङ्ग नित्यौकरि ।
 केलि कला रस आरस आसय,
 पान छुँकै घन-आनँद यौँ करि ॥
 प्रेम निसा मधि गगत पागत,
 लागत अङ्गनि जागत ज्यों करि ।
 ऐसे सुजान विलास निधान ही,
 सोए जगे कहि व्योरिये क्योंकरि ॥

संयोग वर्णन में राधा और कृष्ण को सर्वत्र आनन्द ही दृष्टिगोचर होता है। राधा और कृष्ण के चारों ओर सुहावना वातावरण है। युगल जोड़ी प्रेम और आनन्द की तरङ्गों में डूब रही है—

अति सुगन्ध मलयज घनसार मिलास, कुसुम जल सों छिरकाय ।
 उसीर सदन बैठे मदनमोहन संग लै राधा प्राण प्यारी रति रंगनि
 जमुना तीर वानीर कुंज, मंजु त्रिविधि पवन मुख पुंज
 परसि रोमांच होत छुबीले अंगनि ॥

वृन्दावन संपति दंपति हुलसत विलसत

ऐसे अपनी भरि भरि उमंगनि ।
 आनंदघन अभिलाष भरे भीजे संगम
 रस सागर की श्रुतल तरंगनि ॥

शृङ्गार रस के परिपाक में घनानन्द ने आलम्बन की चेष्टाओं और हाव-भावों को जिस सूक्ष्म दृष्टि से अङ्कित किया है वह उनकी प्रतिभा का परिचायक है । राधा और कृष्ण दोनों की अनेकों चेष्टाओं और मुद्राओं को इस भावुक कवि ने अपनी कविता में स्थान दिया ।

संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत कवि ने रासलीला, कृष्ण और राधा की अन्य विलास लीलायें, मुरलीवादन, होली का रंग, वृन्दावन की शोभा, कृष्ण और गोपियों का पारम्परिक प्रेम-विवाद आदि अनेकों विषयों को अपनी पदावली में स्थान दिया । इसमें सन्देह नहीं कि घनानन्द को जो सफलता शृङ्गाररस के परिपाक में सदैव और कवित्तों में मिली वह पदावली में नहीं । पदावली के पदों में केवल एक परम्परा का निर्वाह किया गया है । जिस प्रकार अन्य कृष्ण भक्तों ने अपने इष्टदेव की भक्ति का पदों में गाया था उसी प्रकार घनानन्द ने भी प्रयास किया । उन्होंने भी कृष्ण के जन्म से लेकर और लीलाओं को भी इन पदों में वर्णित किया किन्तु उनको इसमें केवल अपने इष्टदेव कृष्ण और राधा की लीलाओं को स्मरण कराने मात्र की ही सफलता मिली । इनके पदों में कृष्ण के ईश्वरत्व की भाँकी देने का भी प्रयत्न है । साथ ही उस आध्यात्मिक तत्व को भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है जो कि निम्बार्क और वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में निहित था । काव्य-कला की दृष्टि से यदि देखा जाय तो पदावली में रस परिपाक नहीं होता । कला पक्ष भी बड़ा सरल और संगीत तथा तुकों के अभाव के कारण पाठक बहुत ही शीघ्र उनसे ऊब जाता है । लेकिन फिर भी इन पदों में शृङ्गार के अनेक चित्रों को चित्रित करके अपनी भक्ति भावना को व्यक्त किया है । 'सुज्ञानहित' और 'प्रेम-पत्रिका' आदि में लिखे सदैव और कवित्त भाव-पक्ष की सफलता के प्रतीक हैं । संयोग के जो कुछ वर्णन इन कवित्त और सदैवों में हुये हैं वे अत्यन्त उच्च कोटि के हैं और उनमें संयोग पक्ष की बहुरूपता के अनेक चित्र ऐसे हैं जो घनानन्द को महाकवि

पवन भी इसी प्रकार प्रत्येक स्थान पर जाने में समर्थ है। विरहिणी उसकी कृपा की भी आकांक्षा करती है। पवन समदृष्टि के द्वारा छोटे और बड़े गरीब और अमीर सबको आनन्द देता है। दुखियों को पवन के द्वारा ही आनन्द का उपभोग होता है। विरहिणी पवन से प्रार्थना करती है कि मेरे प्रियतम मुझको अपने प्रेम के गम्भीर सागर में बहाकर अब कहीं दूर जाकर बैठ गये हों। इसलिये हे पवन ! तनिक तू इतना ही कर दे कि उनके चरणों की रज मेरे पास आ जाये और मैं उसको अपने मस्तक पर रख कर अपने जीवन को धन्य समझूँ—

ऐरे बीर पौन तेरौ सबै ओर गौन बारी
तो सौ और कौन मनैं ढरकाही बानि दें ।
जगत के प्रान ओछे बड़े तो समान धन—
आनन्द निधान मुखदान दुखियान दें ॥
जान उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे
अब हूँ अमोही बैठे पीटि पहिचान दें ।
विरह विथा की मृरि आग्विन में राखों पृरि
धृरि तिन पाँयन की हाहा नैकु आनि दें ॥

अंतिम पंक्ति में 'हा हा' शब्द के द्वारा कवि ने विरहिणी की दयनीय दशा का पूर्ण रूप से बोध करा दिया है। कितनी विवशता उनके इन शब्दों से प्रकट हो रही है। घनानन्द ने विरह की आन्तरिक अवस्थाओं को ही प्रकट करने का प्रयत्न अधिक किया। उनके काव्य में साँसों को झूला झुलाने के लिये नहीं प्रयुक्त किया गया। न माघ के महीने में लुत्तों के चलाने का उपक्रम ही कवि की कविता में दिखाई देता है। उनकी कविता में तो केवल उन प्रभावों को दिखाने का प्रयत्न है जिनके कारण विरहिणी रात दिन बेचैन रहती है।

वियोग जन्य अवस्थायें:—आचार्यों ने विरह की दस अवस्थायें मानी हैं। विद्यापति, सूरदास आदि कवियों की रचनाओं में इन अवस्थाओं का विशद चित्रण है। घनानन्द के काव्य में भी उन दस अवस्थाओं को देखा जा सकता है। वे हैं—स्मृति, गुणकथन, अभिलाषा, मूर्च्छा, व्याधि, उद्वेग, प्रलाप

जड़ता, उन्माद और मरण । अन्तिम मरणावस्था को भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने काव्य में दिखाना वर्जित माना है इसलिए वियोगजन्य कृशता के कारण जो अत्यन्त ही शोचनीय अवस्था हो जाती है उसी को इस अवस्था में देख लिया जाता है । घनानन्द के काव्य में यदि इस शास्त्रीय कसौटी को एक ओर रखकर देखा जाय तो दस ही नहीं ऐसी अन्य कितनी और भी अवस्थायें मिलेंगी जिनको कवि के विरह व्यथित हृदय ने देखा । किन्तु शास्त्रीय कसौटी की मान्यता को सम्मुख रख के देखा जाय तो घनानन्द ने इन अवस्थाओं को भी बड़ी गहराई और भावुकता के साथ चित्रित किया है । उन्होंने अपने हृदय की सच्ची अनुभूति को अपने काव्य में उंडेल दिया है ।

प्रिय की स्मृति घनानन्द के सम्पूर्ण काव्य में ही है । उनकी विरहिणी आत्मा उसी स्मृति के कारण ही रुदन करती है—

हित भूलि न आवति है सुधि क्यों हू
 सु यों हूँ हमें सुधि कीजत है ।
 चित भूल तौ भूलत नाहि सुजान
 जु चंचल ज्यौ कछु धीजत है ॥
 दृढ़ आस की पामनि कंठतें फेरिकें
 घेरि उसासन लीजत है ।
 अब देखिये कौ लों धिरै धन-आनन्द
 आव को दाव सो दीजति है ॥

प्रियतम ने क्यों मेरे हृदय को अपनी मृदुल हँसी के द्वारा अपने वश में किया ? क्यों मीठे वचनों को मुनाकर जादू सा किया ? मेरे चैन को कामदेव की सीड़ियों पर चढ़ा दिया ? वही संयोग की बातें आज भी मेरे हृदय में कसक उत्पन्न कर रही हैं । अब वह इतने अन्यायी होकर मुझे दुःख दे रहे हैं—

क्यों हँसि हेरि हरयौ हियरा
 और क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई ।
 काहे कों बोले मुधासने बैननि

चैननि मैन - निसैन चढ़ाई ।
 सो सुधि मो हिय में धनआनन्द
 सालति क्यों हू कढ़ै न कढ़ाई ।
 मीत सुजान अनीत की पाटी
 इतै पै न जानिये कौने पढ़ाई ॥

स्मृति के अनेकों उदाहरण उनके काव्य से दिये जा सकते हैं ।
 वियोगिनी को प्रिय के गुणों का स्मरण वियोगावस्था में एक संबल बन जाता है । उन गुणों के स्मरण से ही वह अपने प्रेम को दृढ़ता देती है । प्रेम का कारण भी यही गुण थे । इन्हीं के कारण तो आकर्षण हुआ था—

‘रावरे रूप की रीति अनूप
 नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिये’
 कृष्ण के रूप को और गुणों को विरहिणी प्रत्येक समय याद करती है—
 छवि कौ सदन, मोद मंडित बदन-चन्द
 तृषनि चखन लाल ! कब धौं दिखाय हो ।

वियोगिनी के हृदय में अनेकों अभिलाषायें ज्ञाग्रत होती रहती हैं । किन्तु उनमें सबसे उग्र और बलवती अभिलाषा प्रियतम के दर्शनों की ही है । वह रात दिन प्रियतम के मिलन के लिये ही व्याकुल होती है । धनानन्द की विरहिणी की अभिलाषा भी उसी मुग्धचन्द के दर्शन मात्र तक ही सीमित है । प्रियतम के नाम में ही रसना अपने को सार्थक समझती है । उसका जीवन अब इसी कारण है कि वह प्रियतम के दर्शनों की अभिलाषा अपने हृदय में लिये हुये है—

दृग नीर सों दीठहि देहुं बहाव पै वा मुग्ध की अभिलाष रही ।
 रसना विष बोरि गिराहि गसों, यह नाम मुधा निधि भाखि रही ।
 धन-आनन्द जान सुबैननि त्यों रचि कान बचि रुचि साखि रही ।
 निज जीवन पाथ पलै कबहुं पिय कारन यों जिय राखि रही ॥
 चित्त में केवल उस प्रिय के मुग्ध को देखने की ही अभिलाषा है । किन्तु

नेत्र अब निराश से हो चले हैं। उनको प्रियतम के दर्शन कहीं भी नहीं मिलते। इस हृदय में इतनी अभिलाषाओं ने अपना नीड़ बना लिया है कि अब उसकी साँस भी बड़ी कठिनता से आरही है। बुद्धि की गति रुद्ध है। प्रियतम ने कहा था कि वह उसकी मुधि लेते रहेंगे और अपनी मुधि देते रहेंगे किन्तु अब उनका कोई भी पता नहीं। इसी कारण अब उसको भी अपने शरीर का होश नहीं रहा—

‘मुख चाहनि काँ चित चाहत है चख-चाहनि ठौरहि पावत ना ।
अभिलाषनि लागनि भाँति भरे हियरा मधि साँस सुहावत ना ।
घनआनन्द जान तुम्हें विन यो गति पंगु भई मति धावति ना ।
मुधि दैन कही मुधि लैन चहीं मुधि पाये बिना मुधि आवति ना ॥

मूर्च्छा—वियोग की चरम सीमा विरहिणी को मूर्च्छित बना देती हैं। घनानन्द के काव्य में विरह अपनी चरम सीमा पर था इसलिये उनकी विरहिणी को अपने शरीर का कोई ध्यान नहीं था। उपयुक्त सबैये में अन्तिम पंक्ति में विरहिणी अपनी मूर्च्छितावस्था की ओर ही संकेत कर रही है—

‘मुधि दैन कही मुधि लैन कही मुधि पाये बिना मुधि आवति ना’

विरहिणी की दशा शोचनीय है इसलिये वह अपने प्रियतम से प्रार्थना करती है कि आकर देख लें अन्यथा न जाने उसकी क्या दशा होगी ?—

दशा है अटपटी प्रिय आय देखौ
न देखौ तौ परेखौ ही परेखौ

विरह वेदना के आधिक्य के कारण मूर्च्छा और उन्माद साथ साथ ही हो जाते हैं—

खोय दई बुधि सोय गई मुधि रोय हँसै उन्माद जग्यौ है ।
मौन गहै चकि चाकि रहै चलि बात कहै तन दाह दह्यौ है ।
जानि परै नहीं जान तुम्हें लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यौ है ।
सोचनि ही पनिये घन-आनन्द हेत पग्यौ किधौं प्रेत पग्यौ है ॥

प्रेम में उन्माद की अवस्था उस समय आती है जिस समय प्रियतम के आने की विरहिणी को कोई आशा नहीं रहती । घनानन्द की विरहिणी भी प्रियतम का स्मरण करके रात्रि में भी चौंक उठती है—

‘जगि सोवनि में जागियं रहै चाह वहै बरगय उठै रतिया’

घनानन्द ने अपने काव्य में विरह की अनेकों अवस्थाओं का समावेश कहीं-कहीं एक साथ कर दिया है—

अंग अंग छुई है उदेग उरभानि महा
साँस लैवो आली गिरि हूतं गरवौ लगै ।
जोवन सरूप गुन सूल से सलत गात
तूल तिनका लीं है गुमान हरवौ लगै ।
और जे सवाद घन-आनन्द विचारै कौन
विरह विषाद जुर जीबो करवौ लगै ॥

विरह की बेचैनी के कारण एक प्रकार की खीज विरहिणी के हृदय में उत्पन्न हो जाती है और वह अपने प्रियतम के ऊपर खीज कर प्रलाप सा करने लगती है—

अंतर हौ किधौ अन्त रही
दग फारि फिरोँ कि अभागिन भीरोँ ।
आगि जरीं अकि पानि परीं
अब कैसी करौँ हिय का विधि धीरीं ।
जो घन-आनन्द ऐसी रुची तौ
कहा बस है अहा प्राननि पीरीं ।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्है
धरनी में धसों कै अकासहिँ बोरीं ॥

विरहिणी विरह की वेदनाओं को सहन करने में अपने को असमर्थ समझती है । इसलिये अपनी इस निराशा अवस्था में वह मृत्यु को चाहती है

किन्तु इस समय मृत्यु भी उससे विमुख हो रही है—

‘बनी है कठिन महा मोहि घन-आनन्द यों,
मीचौ मरि गई आसरौ न जित दूकिये ।’

इस प्रकार घनानन्द के काव्य में विरह की दस अवस्थाओं का चित्रण मिलता है। विरह घनानन्द की आप बीती कहानी थी इसी कारण उसमें उनको अनेक नवीन २ अवस्थाओं को खोजने का अवसर मिला। घनानन्द के काव्य में विरह को अत्यन्त व्यापक स्थान दिया गया।

मरण के समीप पहुँची विरहिणी अपने जीवन को उस प्रकार समाप्त नहीं करना चाहती जिस प्रकार कि मछली अपने प्रियतम जल से वियुक्त होने पर कर देती है। घनानन्द की विरहिणी तो उस प्रियतम के नाम का अवलम्बन लेकर अपने प्राणों को बल देकर जीवित रखेगी—

तेरी बाट हेरत हिराने और पिराने पथ,
थाके ये विकल नैना ताहिं नपि नपि रे ।
हिये में उदेग आगि जागि रही राति दोस
तोहि कों अराधों साधों तपि तपि रे ।
जान घनआनन्द यों दुसह दुहेली दसा—
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे ।
जीव ते भई उदास, तऊ है मिलन आस
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे ॥

विरहिणी की अवस्था तो कुछ अनोखी ही होती है। उसके अन्तस्थल में उद्वेग का दाह है परन्तु उसकी आँखों में अभ्रु-प्रवाह है। न वह सोती है और न वह जगती है, न रोना है और न हँसना। उसकी दशा से यह भी पता नहीं चलता कि वह जी रही है या मरणावस्था में है—

‘जीवन मरन बीच बिना बन्यो आय हाय
कौन विधि रची यह नेही की रहनि है’

शंभुप्रसाद बहुगुना के शब्दों में यह कहना ठीक होगा 'प्रेम की यह गहन अनुभूति थी जिसने घनानन्द की कविता को वेदना की स्वाभाविक हरियाली देकर रीतिकाल की अस्वाभाविकता की मरुभूमि में भटकते पाठक के लिये हरीभरी भूमि के समान आनन्द प्रद बना दिया है।' घनानन्द का काव्य उनके हृदय की सच्ची अनुभूति के रूप में ही है। वह अपनी भावनाओं के कुशल चित्तरे थे। भावों को मूर्तिमत्ता देकर उन्होंने विरह चित्रण में अपनी समता का कोई भी रीतिकालीन कवि नहीं रहने दिया।

घनानन्द के विरह वर्णन में एक ओर तो कृष्ण भक्त कवियों की विरह परम्परा को अपनाकर कृष्ण और राधा के वियोग का वर्णन किया गया है तो दूसरी ओर वह सामान्य नायक और नायिका का विरह प्रतीत होता है। किन्तु दोनों में हृदय की वृत्तियों को समान रूप से ही प्रदर्शित किया गया है। विरहवर्णन में किसी रहस्यात्मक तत्व को नहीं देखा गया और न आध्यात्मिकता का ही अधिक सहारा लिया गया। उनके विरह वर्णन में कहीं रसूफियों का प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है किन्तु वह भी शैली पर ही है। घनानन्द ने अपने विरह वर्णन में अपने हृदय को खोल कर रख दिया है। शुक्लजी का यह कथन उनके विषय में अक्षरशः सत्य है—“यद्यपि उन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है, पर वियोग की अन्तर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है। इसीलिये उनके वियोग संबंधी पद ही अधिक प्रसिद्ध हैं। वियोग वर्णन भी अधिकतर अन्तर्वृत्ति निरूपक ही है, वाष्पार्थ निरूपक नहीं। घनानन्द ने न तो बिहारी की तरह विरह-ताप को बाहरी भाव मापा है, न बाहरी उछल कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है। बाहर से वह वियोग प्रशान्त और गम्भीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल कूद कर भागना है। उनकी “मौन मधि पुकार है।”

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी अपनी पुस्तक 'नव निबन्ध' में पृष्ठ १२२ पर घनानन्द के विरह वर्णन के विषय में लिखा है—“घनानन्द ने विरह के महत्त्व को भली भाँति समझा था। इसलिये प्रेमी के विरहदग्ध हृदय तथा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अनिर्वचनीय मानसिक व्यापारों का जैसा सुन्दर वर्णन अपनी

कविता द्वारा उन्होंने किया है वैसा बहुत कम कवि कर पाये हैं। घनानन्द की यह विशेषता है कि प्रेमी की दशा अथवा उसकी परिस्थित का दिग्दर्शन कराते समय वह बहुत से अन्य कवियों की भाँति केवल शब्दाडम्बर का आश्रय नहीं लेते और न अत्युक्तियों का गाढ़ा रस चढ़ाकर किसी कोमल भाव को भहा बना देते हैं। उनके विरह वर्णन में एक आश्रित का अनुरोध एवं मर्यादित आत्मनिवेदन है जो अपनी स्वाभाविकता के कारण सुनने वाले का मन वरबस ही अपनी ओर खींच लेता है। घनानन्द के 'सुजान सागर' में विरह का रूप उसका उद्भव प्रभाव एवं प्रदर्शन इन सभी के वर्णन अथवा स्पष्टीकरण अनेक स्थलों पर मिलेंगे और विरहलीला में तो विरह-निवेदन मुख्य विषय बनकर आया है।" यदि उनके विरह वर्णन को हिन्दी के अन्य कवियों से मिलाया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास को छोड़कर अन्य किसी भी कवि ने इतने व्यापक क्षेत्र में विरह की महत्ता का प्रतिपादन नहीं किया।

वियोगवेलि में कवि ने अत्यंत चलती हुई शैली में अपने विरहोद्गारों को प्रदर्शित किया है। विरहिणी ने अपने प्राणों का लक्ष्य केवल कृष्ण के दर्शन को ही बना लिया है। वह उनको अपने नेत्रों के सन्मुख ही देखना चाहती है क्योंकि यह नेत्र कृष्ण को दर्शनों की इच्छा से रात दिन खुले रहते हैं। विरहिणी प्रार्थना करती है—प्रिय आप इन आँखों पर दया करके इनको दर्शन दीजिये। यदि आप ही हमारी दशा को नहीं सुनोगे तो और तो सुनोगे ही क्यों ? विरहिणी पत्र भी नहीं लिख सकती। लिखे भी कैसे—

लिखौ कैसे पियारे प्रेम पाती।

लगै अँसुअन भरी है टूँक छाती ॥

मेरा हृदय कभी भी आपसे विमुख नहीं हो सकता। यह तो प्रेम को अन्त तक निभायेगा। उसमें तुमसे मिलने की आशा सर्वथा जगती रहेगी। इसको कोई भी तुम्हारी ओर से नहीं हटा सकता यह तो तुम्हारे अनन्य प्रेम में रत है—

‘तिहारे मिलन की आसा न छूटै

लग्यौ मन बावरौ तोरे न दूटे’

विरहिणी के नेत्रों के सन्मुख इस अवस्था में भी अपने वियुक्त प्रिय का रूप नाचता फिरता है—

सलोनी स्याम-मूरति फिरै आगे ।
कटाछैं बान से उर आन लागे ॥
मुकट की लटक हिय में आय हालै,
चितवनी बंक जियरा बीच सालै ।

कभी २ प्रिय की स्मृति इतनी घनीभूत हो जाती है कि नेत्रों से हर समय अश्रुप्रवाह चलता रहता है । विरह की दशा भी उस समय अत्यन्त, मर्मान्तक हो जाती है—

बहै नय नैन सों अमुआन धारा,
चलावै सीस पै यों विरह आरा ।

निर्दयता की भी कोई सीमा होती है । अब तो विरहिणी की अवस्था ऐसी है कि उसको आकर बचाना ही श्रेयस्कर है । किन्तु फिर भी उसकी दशा पर उसके प्रिय ने तनिक भी दया नहीं की । इसलिए वह फिर एक बार उस प्रिय से कहती है कि आप 'जीवन मूल' हो । यदि पानी ही आग हो जाये तो किसी का क्या वश ? अगर अमृत अमरता के स्थान पर मृत्यु देगे लगे तो इसमें किस का अन्याय ? अगर चकोर का प्रिय चन्द्रमा उसको शीतलपाना न देकर दाह देने लगे तो उससे कोई क्या कह सकता है—

जरावै नीर तो फिर को सिरावै ।
अमी मारै कहौ जू को जिवावै ॥
जु चन्दा ते भरै दैया अंगारे ।
चकोरन की कहौ गति कौन प्यारे ॥

इसलिये प्रियतम से उस विरहिणी की प्रार्थना है कि इस प्रकार की निष्ठुरता छोड़कर उसकी दशा पर वह दया करे ।

घनानन्द की विरहिणी असह्य यातनायें भोगने पर भी अपने प्रियतम की

कुशलता ही चाहती है । वह अपनी तरह प्रियतम को दुर्ग्वी नहीं देखना चाहती—

तुम्हें निसिद्योस मन भावन असीसे
सजीवन हौ करौ हम पर कसीसे

प्रीति की डोरी दुख देने वाली है । लेकिन विरहिणी उसको किसी भी प्रकार नहीं तोड़ना चाहती । उन्होंने कृष्ण के प्रेम को अपने हृदय में थाती के समान सहेज कर रक्ख लिया है । उसे वह प्रिय को ही सौंपेगी—

टरै नाहीं हिये सों हेत-थाती
सम्हारौ आयकें प्यारे संघाती ।

विदेशी प्रभाव :—

वियोग-बेलि में वर्णित विरह में कुछ फ़ारसी पद्धति के विरह वर्णन का प्रभाव सा परिलक्षित होता है । इसी कारण कुछ ऐसे वाक्यों का प्रयोग है जो भारतीय काव्य-शास्त्रानुसार वर्जित हैं । फ़ारसी काव्य में विरह में चीरफाड़ करना, जलने आदि का प्रयोग एक साधारण सी बात है । घनानन्द ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये हैं जैसे, 'लगै अँसुअन भरी है टूँक छाती' 'जरावै जीभ' 'चलावै सीस पै यौ विरह धारा' आदि ।

इसी प्रकार कुछ ऊहात्मक एवं चमत्कार पूर्ण वर्णन भी घनानन्द के काव्य में पाये जाते हैं जो फ़ारसी काव्य में अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते थे । सूफी कवियों में भी इस प्रकार के वर्णन अनेक भरे पड़े हैं । जायसी के 'पद्मावत' में शुक्ल जी ने इस प्रकार के उदाहरणों को उद्धृत किया है ।

जैसे, 'हाड़ भये सब किंगरी नसे भई सब तौंति ।

रोम रोम सो धुनि उठै कहैं विथा केहि भौंति ॥

कबीर के काव्य में भी इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं । किन्तु तुलसी और सूर जैसे कवियों ने भारतीय काव्यशास्त्र के आदर्श को रखकर इस प्रकार के अनौचित्य पूर्ण वर्णनों को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया । रीति-कालीन कवियों के विरह वर्णन में इस प्रकार का दोष अवश्य कितने ही

कवियों पर लगाया जा सकता है। बिहारी, पद्माकर, सेनापति आदि कवियों की रचनाओं में इस प्रकार के दोषपूर्ण स्थल पाये जा सकते हैं। घनानन्द पर भी रीतिकालीन चमत्कार का कहीं २ प्रभाव है किन्तु अधिक नहीं। बिहारी और अन्य रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा बहुत कम है। विरह की तीव्रता के कारण नायिका की जो दशा है उसका कवि ने अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया है—

पाती मधि छाती छुत लिखिन लिखाये जाहि,
 काती लै विरह घाती कीने जैसे हाल है।
 आँगुरी बहकि तहीं पोंगुरी किलकि होति,
 ताती राती दसनि के जाल ज्वाल भाल हैं।
 जान प्यारे जौअब दीजिये संदेसों तौअब।
 आबा सम कीजिये जु कान तिहिं काल है।
 नेह भीजी बातें रसना पै उर आँच लागै
 जागैं धनआनन्द ज्यौ पुँजनि मसाल है।

उपर्युक्त वर्णन पर फारसी की काव्य पद्धति का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता।

इसी प्रकार एक स्थान पर विरहिणी पत्र लिखना चाहती है। किन्तु विरह की ज्वाला इतनी ताव है कि पत्र लिखना भी कठिन कार्य ही नहीं वग्न असंभव प्रतीत हो रहा है। नेत्र बादलों की तरह उसके हृदय सागर से पानी भर कर सावन की सी झड़ी लगा रहे हैं। परिणाम यह है कि उस विरहिणी के नेत्रों की बरुनियों से अश्रु बिन्दु छप्पर की औलाती की बूदों के समान गिर कर पत्र लिखने में भी उस को असमर्थ कर रही हैं—

बिरहा रवि सों घट व्योम तच्यो,
 बिजुली सी पिबै इकली छुतिया।

× × ×
 × × ×

नित सावन दीठि सी बैठक में,
 टपकै वरुनी तिहि औलतिग ॥

फागसी काव्यपद्धति का प्रभाव एक और कवित्त में भी स्पष्ट परिलक्षित है—

कारी कुर कोकिला कहाँ कौ बैर काढति री,
 कूकि कूकि अब ही करेजौ किन कोरिलै ।
 पैड़े परे पापी ये कलापी निस श्रोस ज्योंही,
 चातक घातक त्योंहीं तू ही कान फोरिलै ।
 आनन्द के धन प्रान जीवन मुजान बिना,
 जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरिलै ।
 जौलौं कहै आवन विनोद वरसावन वे,
 तौलौं रे दरारे बजमारे धन धोरि लै ॥

किन्तु इस प्रकार के वर्णन अधिक नहीं । घनानन्द ने अधिकतर वेदनाजन्य दशाओं में ही अपने हृदय को खोया है इस प्रकार के चमत्कार प्रदर्शन में उन को आनन्द नहीं आया । सच्चं कलाकार को इस प्रकार के वर्णनों से क्या तात्पर्य ? उनको तो अपने हृदय में संचित नाना भाव ग्रन्थियों के खोलने में ही आनन्द आता है । घनानन्द ने उन्हीं मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ही देखने में अपने समय का सदुपयोग किया ।

घनानन्द ने सौन्दर्य को देखा और इस प्रकार देखा कि इतने विभोर हुये कि जीवन भर उसके वियोग में व्याकुल रहे । अन्त में सौन्दर्य की राशि कृष्ण में उन्होंने अपनी प्रेमिका के सौन्दर्य का पर्यवसान कर दिया । जीवनभर उसी के वियोग में प्रेम के गीतो से अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति करते रहे । प्रो० रामधारीसिंह दिनकर ने घनानन्द के विरहवर्णन के विषय में निम्न विचारों को अभिव्यक्त किया है—‘और विरह तो घनानन्द की पूँजी ठहरा । विरह के जो स्वर उनके हृदय से निकले हैं वे रीतिकाल तो क्या, सूर की कविता में भी दुर्लभता से मिलते हैं ।’ एक और स्थान पर यही विद्वान लेखक फिर कहता

है—‘रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और कुण्ठा के वातावरण में घनानन्द की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मन सहज ही यह मान लेता है कि दूसरों के लिये किराये पर आँसू बहाने वालों के बीच यह एक ऐसा कवि है जो सचमुच अपनी ही पीड़ा से रो रहा है।’
(अवन्तिका जनवरी १९५४) ।

धनानन्द का काव्य सौष्ठव

काव्य का स्वरूप

काव्य के रूप के विषय में संस्कृत आचार्यों में एक लम्बा विवाद चलता रहा । अपने-अपने मतानुसार साहित्याचार्यों ने काव्य की परिभाषायें निर्धारित कीं और उनके पश्चात् दूसरे आचार्यों ने उनके मतों का खण्डन किया और अपने मत का प्रतिपादन करके काव्य को एक नवीन रूप दिया । किसी ने अलंकारों की प्रधानता को काव्य कहा तो किसी ने रीति को ही काव्य का प्रमुख गुण बताया । आगे के आचार्यों ने ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ को ही काव्य का मूलाधार बताया । किन्तु मम्मटाचार्य जैसे विद्वानों ने इस मत का खण्डन करके अपनी नवीन खोज को रखकर स्पष्ट शब्दों में घोषणा की—

‘तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावलङ्कृती पुनः क्वापि ।’

विश्वनाथ ने काव्य का रूप निर्धारित करते हुये अपने मत को इस प्रकार प्रकाशित किया—‘रसात्मकं वाक्यं काव्यं ।’ परिडतराज जगन्नाथ ने ‘रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दं काव्यं’ कहा । इस प्रकार प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने मत का प्रकाशन विभिन्न रूपों में किया और फिर भी कोई निश्चित मत काव्य के विषय में निर्धारित नहीं किया जा सका । किसी भी आचार्य के मत को उसके परवर्ती आचार्यों ने बिना अपने सुधार के नहीं स्वीकार किया । यदि काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त को छोड़कर अनुभव के आधार पर काव्य की यह परिभाषा दी जाय कि काव्य हृदय की वह व्यापक अभिव्यक्ति है जो भावनाओं की तरंगों के परिणाम स्वरूप निस्सरित होकर अन्य सहृदयों के भावों का उद्रेक कर अपरमित आनन्द देती है । कवि इस दृश्य जगत को देखकर उसके प्रभाव को अपने हृदयपटल पर अङ्कित करता है तथा भावनाओं के जाग्रत होने पर अपने हृदय के उन प्रभावों को अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा दूसरों के हृदय पर भी

अङ्कित कर देता है। इस प्रकार एक कलाकार को प्रभावित करने वाला दृश्य अथवा घटना उसकी कल्पना की तूलिका के द्वारा अनेक भाव-रंगों में रंजित करके उपस्थित की जाती है। जिस प्रकार एक तूलिका से बना चित्र अपने में निहित भावों की अभिव्यक्ति करता है इसी प्रकार कवि के हृदय पटल पर अङ्कित चित्र भी अनोखी व्यंजना प्रकट करता है।

जिस प्रकार एक चित्र को अंकित करते समय चित्रकार के हृदय के अतिरिक्त उसका मस्तिष्क भी लगता है साथ ही कागज तथा विविध रंग भी उस चित्र की सुन्दरता को उत्कर्ष प्रदान करते हैं इसी प्रकार कवि की रचना में भी उसके हृदय के भावों के अतिरिक्त भाषा, अलंकार छन्द आदि भी सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं। केवल भावों के द्वारा किसी भी काव्य की रचना नहीं की जा सकती। भाव भाषा के द्वारा ही व्यक्त हो सकते हैं बिना भाषा के भावों का कोई महत्व नहीं। भावों को मूर्तिमत्ता प्रदान करने में भाषा और अलंकारों का प्रधान कार्य होता है। इस प्रकार काव्य दो आधारों पर आधारित है—हृदय और बुद्धि। भावों का सम्बन्ध हृदय से है और भाषा, अलंकार, छन्द तथा अन्य उपकरणों का सम्बन्ध बुद्धि से। इन्हीं दोनों के आधार पर हृदय पक्ष और कला-पक्ष काव्य के दो स्तंभ कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाय तो और अधिक अच्छा होगा कि हृदय अनेक भावों का भण्डार है और बुद्धि चतुरता एवं कला कौशल की धात्री है। काव्य में कला पक्ष के माध्यम के द्वारा भावों को उत्कृष्टता के साथ अभिव्यक्त किया जाता है। इसलिये काव्य का निम्नलिखित वर्गीकरण है—१-भाव पक्ष २-कला पक्ष।

भाव और उनका प्रसार—

ऊपर बताया जा चुका है कि काव्य का आधार मूलतः भाव है। किंतु उन भावों को व्यक्त करने के लिये अन्य भाषा आदि उपकरण भी अत्यन्त आवश्यक हैं। बिना इन उपकरणों के काव्य का कोई रूप नहीं। भाव हृदय में ही गूँगे के गुड़ के समान पड़े रहेंगे। भाव काव्य की आत्मा है और भाषा अलंकार आदि उसका बाह्य शरीर और वेशभूषा। भाव अनन्त है इनकी कोई सीमा नहीं। मानव हृदय की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। कभी यह किसी

मोहक दृश्य को देखकर आनन्द से भर जाता है और कभी शोक और दुःख पूर्ण दृश्य को देखकर करुणा से प्लावित हो जाता है, कभी किसी भयानक दृश्य से हृदय भयभीत हो जाता है। कभी मनुष्य को सांसारिक उपभोगों से विरक्ति हो जाती है और इस संसार के प्रत्येक आनन्द और सुख को वह क्षण-भंगुर समझने लगता है।

किसी मनुष्य की अभद्रता अनायास ही हमारे मन से क्रोध नामक भाव का उद्रेग कर देती है। युद्धस्थल में हमारे बाहु फड़कने लगते हैं नेत्रों में लालिमा छा जाती है तथा ओष्ठों में फड़कन उत्पन्न हो जाती है। किसी नव-जात शिशु के मुख पर प्रसन्नता के अज्ञात भाव को देखकर न जाने किस प्रकार की गुदगुदी हमारे हृदय में होने लगती है। अपने माँ बाप को अपने प्रति अत्यन्त प्रेम पूर्ण व्यवहार करते देख न जाने कैसा भाव हमारे हृदय में उनके प्रति जागरूक होता है। अपनी पत्नी के अकपट पूर्ण व्यवहार का हमारे हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है ? सुन्दर रमणी के कटाक्ष से हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है तथा उससे अनेक मनोवेगों की जो उथल पुथल मच जाती है यह सब क्या है ? यह सब भाव जगत का ही प्रसार है। यह भाव हमारे हृदय में संस्कार रूप निवास करते हैं। जब किसी भी कारण से इन भावों को जरा भी स्पर्श किया जाता है उसी समय यह भाव जागरूक होकर अनुभावों के द्वारा अपने जागरण की घोषणा करते हैं।

कवि अथवा कलाकार को एक ऐसी प्रतिभा प्राप्त है जिसके द्वारा वह अपने उन भावों को जो कि किसी घटना विशेष से उद्रेग हो उठे हैं अपनी कला के माध्यम से इस प्रकार सुलभ बना देता है कि उसके हृदय के वह भाव जो उस पर प्रभाव कर रहे थे वही अन्य पाठक, श्रोता अथवा दर्शक पर भी करते हैं ॥ कविता को पढ़कर पाठक भी अपने हृदय में अत्यन्त आनन्द का उपभोग करता है। भाव का यही प्रसार कवियों को चिरंतन और अमर बना देता है। कालिदास के काव्य को पढ़ कर आज भी हमारा हृदय आनंदातिरेक से मुग्ध हो जाता है। उनकी शकुन्तला और दुष्यन्त हमको एक साधारण मनुष्य ही प्रतीत होते हैं। कालिदास द्वारा उनके पारस्परिक प्रेमभाव को

वर्णित नहीं किया जा सकता । उधर श्याम का रूप भी कम आकर्षक नहीं । उस रूप को देखकर के नेत्र ही रस की राशि हो गये हैं ।— कभी उनमें से प्रेमाश्रु की झड़ी लग जाती है । जिस समय कृष्ण इन आँखों से ओभल हो जाते हैं उस समय यह उनके रूप के लिये तरसती हैं । कभी उनकी रूप माधुरी को देखकर सरस रहती हैं तो कभी निराश हो जाती हैं । कभी प्रेम में इतनी विभोर होती हैं कि कृष्ण के रूप को ही देखती रहती हैं । इस प्रकार के अनेकों भाव इस प्रेम ने इन आँखों को दे दिये हैं—

वरसे तरसे सरसे अरसें, न कहूँ दरसें इहि ल्लाक छईँ ।
 निखरे परखे करखे हरखे उपजी अभिलाषनि लाखजईँ ।
 धन आनंद ही उनए इनमें बहु भौतिन ये उन रंगरईँ ।
 रस मूरति स्यामहि देखत ही सजनी अँखिया रस रासि भईँ ॥

नव-यौवना नायिका के आन्तरिक भावों को कवि ने बड़ी सरल और स्वाभाविक शैली में अभिव्यक्त किया है । प्रेम में लुकी वह नायिका अपने यौवन की उमङ्ग के साथ लजा का आवरण धारण कर गृह में किस प्रकार कार्य करती है । उनका हृदय अपने प्रियतम के समीप ही है इसलिए किसी कार्य के बहाने से वह उसी ओर बार-बार जाती है । अपने सौंदर्य के कारण उसकी गति भी कुछ अनुपम है । उसके पैर पृथ्वी पर नहीं पड़ते ऐसी रूप-शालिनी को देखकर प्रियतम के हृदय का क्या हाल होगा ? स्पष्ट है कि उनके हृदय में नाना प्रकार की इच्छाओं का उदय होगा और साथ ही साथ उस नव-यौवना के रूप की ओर अधिक मोह उत्पन्न होगा । घनानन्द स्पष्ट कहते हैं—

हरि नेह-लुकी तरुनाई के तेह सु गेह में लाज सौं काज करै ।
 मिसठानि चलै रसिया रहठानि त्योँ आनिभट्ट अँखियान अरै ।
 धन-आनन्द रूप गरूर भरी धरनी पर सूखे न पाँय धरै ।
 पिय कौ हिय ताहि लाखे अभिलाषनि लाखनि लाखनि भौति भरै ॥

आन्तरिक भावों की झलक कितनी स्पष्ट और चित्रोपम है । इसी प्रकार के भावों का चित्रण ही घनानन्द के काव्य का प्रधान गुण है केवल शरीर के

सौंदर्य को ही उन्होंने नहीं वर्णित किया वरन् उस सौन्दर्य के कारण उस नायिका के हृदय की क्या दशा है इस की ओर उनका ध्यान अधिक रहा है। कभी उसके पैर सौंदर्य के गर्व में धरती पर नहीं पड़ते तो कभी वही सौंदर्य उस रूपवती को नाक चढ़ाने की प्रेरणा देता है कभी वह कृष्ण को देखकर तिरछी २ चलती है।

हाव भाव और मुद्राओं का सौंदर्य के उत्कर्ष में बड़ा हाथ है। नायिका घूँघट में से देखती है उसके कटाक्ष बड़े तीक्ष्ण हैं। उसका रूप इतना उज्ज्वल है कि नेत्र चौंधिया जाते हैं तथा वह अपनी गुलाल की मूँठ जिस समय नायक पर फैंकती है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह उस पर जादू कर रही हो। (मूँठ चलाना एक जादू होता है जिसको अपने दुश्मन पर चलाकर अपने वश में किया जाता है।) यहाँ पर कवि ने इस मूँठ शब्द के द्वारा सौंदर्य के आन्तरिक प्रभाव को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिखाया है। यदि कवि इस मुहाविरे को इस पद में प्रयुक्त नहीं करता तो केवल वाह्य चेष्टाओं का ही वर्णन मात्र रह जाता किन्तु भावुक कवि की दृष्टि तो अन्तर्वेधिनी है—

घूँघट ओट तै तिरछी घन-आनन्द चोट सुघात बनावै ।
बाँह उसारि सुधारि बरा वरवीर ! छरा धरि दूकति आवै ।
क्रौंधि अचानक चौंधि भरै चख चौकस चौकति छाँह न छावै ।
बाल अनूठियै ऊठ गुलाल की मूठि में लालहि मूठि चलावै ॥

यदि यह कहा जाय तो और अधिक उचित होगा कि घनानन्द का वाह्य-चित्रण और हाव भाव वर्णन केवल इसी उद्देश्य से हुआ है ताकि आन्तरिक वृत्तियाँ और भी अधिक स्पष्ट हो सकें। कहीं भी ऐसा वर्णन कवि ने नहीं किया जिसमें केवल वाह्य रूप को प्रदर्शित करने की ओर ही अधिक ध्यान रहा हो। यदि कहीं-कहीं पर एक दो स्थान पर ऐसा हुआ भी है तो वह रीति-कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण।

कृष्ण के रूप सौंदर्य का वर्णन भी कवि ने इसी प्रकार भावमग्न होकर ही किया है। कृष्ण के रूप के प्रभाव से अचानक ही राधा के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसका मन उस रूप के हाथों बिक गया। कृष्ण का संगीत

प्रेमयुक्त था । वह राधा की ओर देखकर अपने प्रेम को इस प्रकार अभिव्यंजित कर गया कि उसी समय से राधा प्रेमोन्मत्त होकर भूमने लगी । कृष्ण के सङ्गीत की तानें उसके हृदय के तार तार को भँकृत कर गई—

छवि सों लुवीलो छैल आजु भोर याही गैल,
 अति ही रंगीली भाँति औचक ही आयगौ ।
 चटक मटक भरी लटक चलनि नीकी,
 मृदु मुस्क्यान देखें मो मन विकायगो ।
 प्रेम सो लपेटी कोऊ निपट अनूठी तान,
 मोतन चिताय गाय लोचन दुरायगौ ।
 तब मैं रही हौं घूमि भूमि जकि बावरी हूँ,
 सुर की तरंगनि में रंग बरसायगौ ॥

प्रेम भरी चितवन और साथ ही प्रिय के सङ्गीत ने नायिका के हृदय पर जो प्रभाव डाला उसको घनानन्द ने किस चित्रोपमता के साथ प्रदर्शित किया है यह उनके कवि हृदय की पैठ के परिचय के लिये काफी है ।

रूप का प्रभाव कुछ विचित्र ही होता है । इसको ज्यों-ज्यों देखिये त्यों-त्यों इसको देखकर नेत्रों को तृप्ति नहीं होती । जिस प्रकार संगीत की ध्वनि भी अधिक व्यापक प्रभाव डालती है उसी प्रकार यह रूप भी जितना देखा जाय उतना ही व्यापक और असीम हो जाता है । मतिराम ने भी रूप के इस प्रभाव के दर्शन किये थे । प्रमी घनानन्द तो रूप की आन्तरिक तहों को देख चुके थे उन्होंने भी मतिराम के निम्नलिखित भाव से अपने भाव को किसी प्रकार निम्नकोटि का नहीं रहने दिया—

‘ज्यों-ज्यों निहारिये नियरे हूँ नैननि त्यों त्यों खरी निकरैसी निकाई ।’

किन्तु घनानन्द की आँखें उस रूप को ज्यों ज्यों देखती हैं त्यों त्यों उनकी आँखें उस रूप को अपने में केन्द्रित करने को लालायित होती हैं । ज्यों ज्यों उस रूप की आभा इन नेत्रों को दिखाई देती है त्यों त्यों देखने की चाह भी अत्यधिक बलवती और तीव्र होती जाती है—

छवि की निकाई ऐहो मोहन कन्हाई कछु,
 वरनी न जाई जो लुनाई वरसत है ।
 वारिध तरंग जैसे धुनि राग रंग जैसे,
 प्रतिछिन अधिक उमंग सरसति है ।
 किधौं इन नैननि सराहौं प्रान प्यारे,
 रूप-रेलहिं सकेलें तऊ दीटि तरसति है ।
 ज्यों ज्यों उत् आनन पै आनन्द मु ओप औरै,
 त्यों-त्यों इन चाहनि में चाह बरसति है ॥

रूपवान् नन्द का ढोटा आखों के मार्ग से हृदय में बरवस ही प्रवेश कर रहा है । कृष्ण की वंशी का स्वर कुछ इस प्रकार है कि वह कानों में से प्रवेश करके प्राणों में हलचल मचा देता है । सम्पूर्ण ब्रज में इसी बात की चर्चा है कि वंशी के इस वशीकरण मंत्र के निवारण का क्या उपाय है—

‘काननि हूँ प्राननि निकास लेति ऐरी बीर !

ऐसो कछु गावत मधुर वंशी स्वर में ।’

घनानन्द के शृंगार चित्रण में हृदय की तन्मयता और विभोरता वाह्य चित्रण के ऊपर उठकर चली है । प्रियतम के साथ बिहार करने की उत्कंठा से नायिका के हृदय में जो उमंग उठती है उसका वर्णन महाकवि घनानन्द की लेखिनी के द्वारा कितना चित्ताकर्षक और सुन्दर बन पड़ा है—

ललित उमंग बेलि आल बाल अन्तर तें,
 आनन्द के घन सीची रोम रोम हूँ चढ़ी ।
 आगम उमाह चाह चायौ ले उछाह रंग,
 अंग अंग फूलनि- दुकूलनि परै कढ़ी ।
 बोलत बधाई दौरि दौरि कै छबीले दग,
 दशा सुभ सगुनौती नीके इनपै पढ़ी ।
 कंचुकी तरकि मिले सरकि उरज, भुज,
 फरकि सुजान चोप चुहल महा बढ़ी ॥

घनानन्द का आन्तरिक तथ्यों का वर्णन इतनी उच्चकोटि का है कि उनकी महानता बरबस ही स्वीकार करनी पड़ती है। बिहारी और पद्माकर आदि रीतिकालीन कवि संयोग चित्रण में केवल वाह्य उपकरणों को वर्णित कर के अपने आश्रयदाता की प्रसन्नता प्राप्त करना चाहते थे किन्तु घनानन्द की कविता उनके हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति थी। उनको किसी को प्रसन्न करके धन प्राप्त नहीं करना था। इसलिये उनका ध्यान किंकिणी के कोलाहल और मंजीर ने मौन की ओर न जाकर उस प्रभाव की ओर गया जो नायिका के नेत्रों तथा अन्य हाव भाव और मुद्राओं से प्रकट हो रहा था। यौवन का रंग और रूप आँखों में किस प्रकार की तृप्ति भर देता है तथा आलस्यपूर्ण मद भरी चितवन में क्या प्रभाव होता है? चाल में कैसा ढीलापन तथा एक लज्जाभाव का प्रदर्शन है? ऐसा प्रतीत होता है कि प्रियतम के मिलन से इस नायिका के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये हैं—

मुख स्वेद कनो मुखचंद बनी विथुरी अलकावलि भाँति भली ।
मद जोवन रूप छुकी आँखियाँ अवलोकति आरस रंग मली ॥
घन आनन्द ओपित ऊँचे उरोजनि चोज मनोज के ओज दली ।
गति ढीली लजीली रसीली लसीली मुजान मनोरथ बेलि फली ॥

यदि रीतिकालीन कवि इस प्रकार के वर्णन को करता तो उसका ध्यान अधिकतर संयोग के चित्र को प्रस्तुत कर कामोत्तेजना का प्रसार करने की ओर रहता। किन्तु घनानन्द तो अपने कवित्तों को किसी अन्य प्रेरणा अथवा किसी आश्रयदाता की प्रसन्नता के लिये नहीं रचते। उनके कवित्त तो उनके हृदय के वह उद्गार हैं जिनको उन्होंने अपनी ही आत्मा के मनोरंजन करने के लिये रचा। उन्होंने अन्य लोगों के लिए अपने कवित्तों को नहीं बनाया वरन् उनके कथानुसार 'मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।'।

इस महाप्रेमी ने सौंदर्य के अन्तस्तल में बैठकर संयोग और वियोग के अनेकों मनोवेगों को अनुभव किया और उन भावनाओं के अनेक भेद प्रभेदों को अपने काव्य में अभिव्यंजित किया। भाषा और सुन्दर छन्दों के चयन में

इस कवि को अधिक रुचि थी इसलिये उन्होंने अपने उन भाव रूपी मोतियों की लड़ी को भाषा और छन्द के डोरों में इस प्रकार पिरोया जो अपनी चमक से अनायास ही पाठकों के हृदय को अपने वश में कर लेती हैं। प्रेम के इस साधक ने अपने हृदय की भावराशि को अपने काव्य में इस प्रकार संजोया कि अनायास ही पाठक का हृदय रसमग्न होकर डूबने उतरने लगता है। भाव की गहराइयों के कारण इनके काव्य में वह तत्व विद्यमान हैं जो एक महाकवि की रचना में आवश्यक होते हैं। इनकी कविता के भावों को समझने के लिए यह आवश्यक नहीं कि काव्यशास्त्र के पूर्ण परिणित हों अथवा पिंगल और व्याकरण आदि के ज्ञाता हो जायें। इनकी कविता को बही मनुष्य सरलता से समझ लेगा जोकि प्रेम की पीर का अनुभव कर चुका होगा। कठोर हृदय में उनकी कविता अपना प्रभाव नहीं डाल सकती—

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै इहि भोंति की बात छकी ।
 सुनिकैं सब के मन लालच दौरै पै बौर लगैं सब बुद्धि चकी ।
 जग की कविताई के धोखे रहे ह्याँ प्रवीननि की मति जात जकी ।
 समुझै कविता धन-आनन्द की जिहि आँखिन नेह की पीर तक़ी ॥

प्रियतम के पत्र का प्रभाव प्रेयसी पर जो पड़ता है उसे प्रत्येक सहृदय जानता होगा। अनेक कवियों ने इस भाव का वर्णन किया किन्तु महाकवि धनानन्द ने उस प्रसन्नता को जो मूर्तिमत्ता प्रदान की वह अनोखी है—

‘मित्र के पत्रहि पावत ही उर काम चरित्र की भीर मची है ।
 सीस चढ़ावति आँखिन छावावति चुंवन की अति चोप रची है ।
 हाय कही न परै हित की गति कौन सवार अचौन अची है ।
 छाती सों छावावत ही धनआनन्द भींजि गई दुति पोंति नची है ॥

प्रेम की इसी अनन्यता को सूर ने भी अपने भ्रमरगीत में दिखाया है। वहाँ भी गोपियों ने कृष्ण प्रेम में भावों के अगाध समुद्र में डूबकी लगाई है। राधा ने कृष्ण को देखा किन्तु गुरुजनों के कारण वह अपने घर से नहीं

निकल सकती। दीवार से सटी हुई कृष्ण की बातों को सुनकर वह उन पर मुग्ध होगई। उसकी उस अवस्था का चित्रण करना असंभव है। वह कृष्ण से मिलना चाहती है किन्तु लोकलज्जा के भय से उसकी दशा उस हरिणी के समान है जो प्रयास करने पर भी शिकारी के जाल से मुक्त नहीं हो सकती। कृष्ण ने अपनी वंशी की तान भी छोड़ दी अब तो उसकी दशा और भी करुण होगई। लेकिन गुरुजनों के कारण वह बेचारी छुटपटाती ही रहती है। इसी को प्रेम की विवशता कहते हैं—

रही मिलि भीति पै समीत लोकलज्जा भीजी,
 रीभी कहूँ स्यामैं देखि दसा ताकी को कहै ।
 फंद की मृगीको छन्द छूटिवे कौ नैंकौ नाहिं,
 चारयौँ और कोरि कोरि भाँतिन सों रोक है ॥
 मोहन कौ बेनु सुनै धुनै सीस मन ही में,
 धुनै भीरी सोच गुनै गहि बूढ़े लोक में ।
 उधरै न बास गुरुजन आस पास घन आनन्द,
 कठिन कहा अहा नेह भोक में ॥

सुन्दरी की चाल को देखकर हंस भी लंगड़े हो जाते हैं। उसके सौन्दर्य को देखकर इन्द्राणी और कामदेव की पत्नी रति भी अपने आपको हेय समझने लगती है। घूँघट के भीतर से बिखरती उस नायिका की मुख कान्ति करोड़ों चन्द्रमाओं के घमंड को नष्ट करती है। वह लज्जाशीला अपने प्रिय के हृदय को प्रेम से प्लावित कर देती है—

चाल-निकाई लखें बिलखें पन्नि पंगु मरालिन माल विसूरति ।
 पाय परै न परै मति पाय सची तरसै थरसै, न कछु रति ॥
 घूँघट बीच मरीचनि की रुचि कोंटिक चन्दन कौ मद चूरति ।
 लाजनि सों लपटी घनआनन्द साजन के हिय में हित पूरति ॥

घनानन्द ने सूरदास के समान गोपियों और कृष्ण के संभाषण का अत्यंत

ही स्वाभाविक चित्र उपस्थित करके उनके हृदय के भावों को सरलता पूर्वक अभिव्यक्त किया है—

छैल नये नित रोकत गैल सु फैलत कापै अरैल भये हौ ।
 लै लकुटी हँसि नैन नचावति बैन रचावत मैन तए हो ।
 लाज अंचै बिन काज खगौ तिन ही सों पगौ जिन रंग एहौ ।
 एँद सबै निकसैगी अबै धन-आनन्द आनि कहा उनए हौ ॥

किस सरलता के साथ घनानन्द ने गोपी और कृष्ण के भावों को अभिव्यक्त कर दिया यह उनकी भाव प्रवणता की सफलता है। गोपी के वचनों में प्रेम भाव की व्यंजना बड़ी सुन्दरता के साथ हुई है। उसके हृदय पर कृष्ण के रूप का प्रभाव उसकी उक्ति 'लै लकुटी हँसि नैन नचावति बैन रचावत मैन तए हौ' से बड़ी ही मार्मिकता के साथ स्पष्ट हो जाता है।

कृष्ण के रूप सौन्दर्य को मूर्तिमान करके तथा उस रूप के प्रभाव को कवि ने किस कुशलता के साथ प्रदर्शित किया है—

डगमगी डगनि धरनि छवि के ही भार,
 दरनि छबीले उर आछी वनमाल की ।
 सुन्दर वदन पर कोटिक मदन वारों,
 चित चुभी चितवन लोचन विसाल की ।
 काल्हि इहि गली अली निकस्यो अचानक है,
 काह कहौ अटक भटक तेहि काल की ।
 भिजई हौं रोम रोम आनन्द के धन, छाई,
 बसी मेरी आँखिन में आवनि गोपाल की ।

कृष्ण के सौन्दर्य और चाल ढाल गोपी को कुछ इतना सुन्दर लगा जिसे वह वर्णन करने में अपने आप को असमर्थ पाती है। फिर भी वह उस पर जो प्रभाव पड़े उनको स्पष्ट अवश्य करना चाहती है—उसके हृदय में कृष्ण की चितवन प्रवेश कर गई और उसके कारण उसका रोम २ आनन्द से पुलकित हो गया। इसके अतिरिक्त यह नहीं हुआ कि कृष्ण के चले जाने पर

उनके रूप का प्रभाव चला गया हो वह फिर भी उसकी आँखों में आकर बस गया ।

घनानन्द ने अपने काव्य में हृदयगत प्रभावों को ही अधिक स्थान दिया । उनके नायक नायिका अथवा गोपी कृष्ण केवल बाह्य रूप और चेष्टाओं को ही प्रदर्शित नहीं करते वरन् अपने हृदय के उल्लास और उद्गारों को व्यंजित करते हैं । इस सौन्दर्य को देखकर ऐसा नहीं होता कि बिना पत्रा के तिथि का पता न चले अथवा 'हरि नोके नैनानि तं हरि नीके ये नैन' कहकर ही नायिका के नेत्रों का वर्णन कर दिया जाय । घनानन्द के कृष्ण और राधा का सौंदर्य तो हृदय पर अपना अधिकार करके नाना प्रकार के मनोवेगों को जन्म देता है और उसी सौन्दर्य को न मिलने पर कवि की आत्मा विरहिणी होकर जीवन पर्यन्त उसका स्मरण करती रहती है । संयोग का वह आन्तरिक प्रभाव ही विरह होने पर वियोगिनी के हृदय के तार तार से भंकार निकालने लगता है । प्रो० रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में यदि यह कहा जाय तो बिल्कुल उचित होगा—'और विरह तो घनानन्द की पूंजी ठहरा । विरह के जो स्वर उनके हृदय से निकले हैं वह रीतिकाल तो क्या, सूर की कविता में भी दुर्लभता से मिलते हैं । रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और कुंठा के वातावरण में घनानन्द की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मन सहज ही यह मान लेता है कि दूसरों के लिए किराये पर आँसू बहाने वालों के बीच यह एक ऐसा कवि है जो सन्मुख अपनी ही पीड़ा से रो रहा है ।' (अवन्तिका जनवरी १९५४) ।

वियोग-पक्ष का भाव सौंदर्य :—घनानन्द का प्रेम कोई घटना मात्र नहीं था वरन् एक जीवन मरण का प्रश्न था । जिस भावुक कलाकार ने अपनी प्रेयसी के कारण राजदरबार को छोड़ा था अनेकों कुलीन वंशीय लोगों का अपमान सहा तथा उस काल के कवियों द्वारा उनकी खिल्ली उड़ाई गई वह प्रेम एक साधारण घटना नहीं हो सकता । घनानन्द ने अपनी प्रेमिका को अपने हृदय मन्दिर में स्थान दिया था । उसके विरह को वह किस प्रकार सहन कर सकते थे । उनकी आत्मा रोने लगी और उस रुदन में उनके हृदय के संचित भाव ही अभ्र बनकर बहे । उनका हृदय प्रेम रस से आर्द्र हो चुका था वह

प्रियतम के वियोग में तप्त हो गया और उसकी आर्द्रता उस वियोगजन्य ताप के कारण भाप बनकर उनके नेत्राकाश में जम गई और फिर स्मृति की घटाओं के छाने पर उसी प्रेम रस को जो भाप के रूप में था प्रवाहित करके रसिकों के हृदयों को निमज्जित करने लगी। प्रिय ने प्रथम तो इतना स्नेह बढ़ाया था किन्तु फिर इस प्रकार निर्मोही होकर चले गये कि जैसे कभी परिचय भी नहीं था। विरहिणी इसी दुःख के कारण रात दिन हाय हाय करती रहती हैं। यह कहाँ का न्याय है कि पहले तो मीठी २ बातें करके ठगलो और फिर बात भी न करो। किन्तु ईश्वर के यहाँ अवश्य इसका न्याय है कि जो किसी को तड़पाता है उसे भी तड़पना पड़ता है—

‘सुनी है कि नाहिं यह प्रगट कहावति जू,

काहू कल पाय है सु कैसे कलपाय है ।’

कृष्ण की निष्ठुरता पर राधा उनको अनेक उपालम्भ देती है। सच भी है कि जो हृदय टूट कर खण्ड २ हो चुका है उसमें उपालम्भ देने के अनिश्चित और रहा भी क्या है ? संयोग में किस प्रकार मीठी २ बातें करके स्नेह का पाठ पढ़ाया। जिन मधुरता पूर्ण बातों को सुनकर के कामोद्रेग हुआ था। उन आनन्द के क्षणों को कोई कैसे भुला सकता है ? कृष्ण की वह बातें आज भी उस विरहिणी के हृदय में एक मधुर टीस उत्पन्न कर रही हैं। किन्तु प्रिय इतना निष्ठुर है कि उसको वियोगिनी की दशा पर तनिक भी दया नहीं आती—

क्यों हँसि हेरि हरयो हियरा, अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई ।

काहे को बोले सुधा सने बैननि, चैननि नैन निसैन चढ़ाई ॥

सो सुधि मो हिय में घन आनन्द सालति क्यों हूँ कढ़ै न कढ़ाई ।

मीत सुजान अनीति की पाटी इते पै न जानियै कौन पढ़ाई ॥

जिसको प्रिय ने मँझधार से निकाल कर अपनी बाँह का सहारा दिया था और उसको अपना ही बना लिया था। उसको आज इस निष्ठुरता के साथ डुबाया जा रहा है। यह तो उचित बात नहीं है क्योंकि जिस को प्रेम-रस

पिलाकर अपूर्व जीवन दिया था उसी के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाये—

पहले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह कौं तोरिये जू ।
 निरधार अधार दै धार मँभार दर्ई । गहि बाँह न बोरिये जू ॥
 धन-आनन्द आपने चातक कों, गुन बाँधि लै, मोह न छोरिये जू ।
 रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यों बिष घोरिये जू ॥

वियोग की चरम सीमा पर वियोगिनी की जो दयनीय अवस्था हुई है उसका चित्रण महाकवि ने अत्यन्त ही मार्मिकता के साथ किया है—

खोय गई बुधि सोय गई सुधि, रोय हँस्यौ उन्माद जग्यौ है ।
 मौन गहै, चकि चाकि रहै, चल बात कहै, तं न दाग दग्यौ है ॥
 जान परै नहि जान ! दुम्हें लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यौ है ।
 सींचति ही पचिये धन-आनन्द हेत पग्यो किधौं प्रेत लग्यौ है ॥

विरह के कारण हृदय के अनेक भाव क्षण क्षण में अपना रंग उस विरहिणी के हृदय में उथल पुथल मचा कर दिखाने है । प्रेमान्मत्तता की यह दशा कितनी करुणोत्पादक है । अब इस जीवन का क्या महत्व रहा ? यदि यह प्राण भी प्रिय के साथ ही चले गये होते तो भी ठीक था लेकिन अब तो इनको भी इसी प्रकार से काटों को भेलना पड़ेगा । वियोगिनी के हृदय की कसक अनायास ही उसके मुख से बड़े मनोवैज्ञानिक दृङ्ग से निकल कर अपना प्रभाव पाठकों के हृदय पर डालती है—

‘हेली मन भावन अकेली मोहि कै चले’

वास्तव में उसका घनीभूत दुःख इसी कारण से तो है । यदि प्रियतम का वियोग नहीं होता तो उसको जीवन में यह दयनीय दशा क्यों देखनी पड़ती ।

उसका प्रेम तो चातक के समान ही है । जिस प्रकार चातक को अपने प्रिय स्वांति जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये इसी प्रकार घनानन्द की वियोगिनी भी केवल कृष्ण के दर्शनों के लिये ही अपने जीवन को इन वेद-नाश्रों को सहन करते हुये भी खरना चाहती है । उसके बाँट में प्रिय का

स्मरण है और प्रिय के बाँट में उस वियोगिनी को विस्मृत कर देना आया है फिर उपालम्भ यदि वह दे भी तो कैसे दे । यह तो दैव के द्वारा ही निश्चित कर दिया गया था । अब तो केवल प्रिय के गुणों को गाकर ही जीवन के दिन व्यतीत करने हैं और किसी भी प्रकार से इस प्रेम के पथ से पीछे नहीं हटना चाहे प्रिय कैसी भी निष्ठुरता क्यों न दिवाये । उसको तो यह विरह भी प्रेम की भेंट के रूप में ही स्वीकार है । इसलिये न कोई शिकायत है । और न किसी प्रकार की कमजोरी ही दिखानी है । घनानन्द की वियोगिनी नायिका अपने प्रिय के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट करते हुये कहती है कि उसकी अवस्था चाहे जिस प्रकार की रहे किन्तु उसका प्रियतम सदा आनन्द और हर्ष के साथ अपना जीवनयापन करे—

‘नित नीके रहौ तुम्हें चाढ कहा पै असीस हमारियौ लीजियौ जू।’

विरहिणी को उत्सव और त्यौहारों के समय अपने प्रिय का न होना बड़ा खटकता है । होली का त्यौहार आनन्द और उल्लास को लेकर भारतीय गृहस्थों में आता है । किन्तु घनानन्द की वियोगिनी को किस प्रकार प्रियतम का वियोग खटकता है—

‘मेरो मन आली वा बिलासी बनमाली बिन,
बावरे लौं दौरि दौरि परै सब ओर लौं ।

विरहिणी निरपराध है । वह इस कारण इस प्रकार कृष्ण के द्वारा सताई जा रही है यदि इस प्रश्न को कोई उससे पूछे तो वह उसे क्या उत्तर दे ? वियोगिनी अत्यन्त सरल भाव से कृष्ण से पूछती है—

यह देखि अकारन मेरी दसा कोई बूझै तो उत्तर कौन कहौं ।

जिय नेंकु विचारि कें देउ बताय हहा प्रिय ! दूरतें पाँय गहौं ॥

कृष्ण की निष्ठुरता को किस मुन्दरता के साथ व्यंजित किया है ।—प्रेयसी उनकी निष्ठुरता को उनके मुख के द्वारा ही कहलाना चाहती है । यदि अपने मुख से प्रेमी की निन्दा करती है तो प्रेम के उदात्त भाव में कमी आजाती है । घनानन्द ने प्रेयसी की विवशता को किस मनोवैज्ञानिकता के साथ चित्रित किया है । प्रिय का वियोग प्रेयसी के ऊपर कुछ ऐसा प्रभाव डालता है कि

वह पत्र लिखने में भी अपने आपको असमर्थ समझती है। वियोग की अति-शयता के फल स्वरूप नेत्रों से अश्रुओं का स्रोत उमड़ता रहता है इस कारण उसकी आँखों के सन्मुख अश्रु ही छाये रहते हैं फिर भला वह पत्र किस प्रकार लिखे। हृदय में अनेकों भाव उठ रहे हैं किस लिखे और किसे न लिखे। उसकी वेदना घनीभूत हो जाती है और वह अपनी वेदना को इन मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त करती है—

‘प्राण मरेंगे भरेंगे बिथा पै अमोही सों काहू कौ मोहन लागौ ।’

आँसुओं का प्रवाह किसी भी प्रकार नहीं रुकता। वियोगिनी की दशा दिन प्रतिदिन क्षीणातिक्षीण होती जा रही है। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं दिखलाई देता कि उसकी इस दशा का परिचय उसके प्रियतम को करादे। विवश होकर मेघ को ही अपना सन्देश वाहक बनाकर भेजती है। संभवतः घनानन्द की वियोगिनी को पता है कि जब यक्ष को कुवेर के द्वारा शाप देकर उसकी प्रिया से एक वर्ष को अलग किया था तो उस समय उसको मेघ ही एक ऐसा सहायक प्रतीत हुआ जो कि उसके सन्देश को उसकी प्रिया के समीप पहुँचाने में समर्थ था। घनानन्द की वियोगिनी के हृदय की परवशता किस प्रकार फूट निकली है इसका पता निम्नलिखित पद से स्पष्ट हो जाता है—

परकाजहि देह कौ धारि फिरौ परजन्य जथारथ हँ दरसौ ।

निधि नीर मुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ ॥

घन आनन्द जीवन दायक हौ कलु मेरी यौ पीर हियै परसौ ।

कबहू बा बिसारी मुजान के आगन मो आँसुवान कौ लै बरसौ ॥

इस प्रकार की छटपटाहट का चित्रण वही कर सकता है जो इस प्रकार के दुःख को स्वयं अनुभव कर चुका हो। घनानन्द का तो सम्पूर्ण जीवन ही विरह की यातनाओं में बीता था। उनकी मुजान लौकिक रही तब उसने उनको सताया और जब अलौकिक होकर कृष्ण का रूप धारण कर लिया उस समय भी उनको उसके वियोग में रोना पड़ा। वियोगी कवि ने अपने भग्न हृदय में भावनाओं को ही संजोकर रखा और उन्हीं को उसने अपने काव्य में अंकित कर

दिया। भावुक कलाकार की अनुभूति जीवन के सत्यों को इस प्रकार से अभिव्यक्त करती है कि उसमें जनसमाज का हृदय भी उसी प्रकार डूबता उतरता है जिस प्रकार कि उस कलाकार का अपना हृदय डूबा था।

वियोगावस्था में आँखों की दशा शरीर के सम्पूर्ण अवयवों से दयनीय होती है। हृदय के जितने भाव हैं वह इन आँखों से ही प्रकट होते हैं। जो दशा हृदय पर प्रभाव डालती है उसका प्रभाव आँखों पर अवश्य पड़ेगा। कभी उनमें प्रियतम की मूर्ति नाँचने लगती है तो कभी उनमें आँसुओं का प्रवाह चलने लगता है। यदि प्रिय स्वप्न में भी इन आँखों के द्वारा देख लिया जाता है तो इनकी वही दशा होती है जो कि प्रियतम के प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरान्त हो जाती है। दुःख के कारण आँखें कुछ इस प्रकार की हो जाती हैं कि इनके खुले और बन्द होने का अंतर ही नहीं समझा जाता। यदि विरहिणी जग भी रही हो तब भी उसकी आँखें कुछ वेदना के भार से झुकी रहती हैं मानो कि वह सुस्तावस्था में हो।

वियोगावस्था में विरहिणी किस प्रकार अपने शरीर को विस्मृत कर देती है इस भाव को अत्यन्त ही मौलिकता के साथ महाकवि घनानन्द ने देखा। अभी तक वियोगिनी अपने प्रियतम की स्मृति में ही अपना जीवन व्यतीत करती थीं किंतु यह वियोगिनी कहती है कि प्रिय का स्मरण तो वे करती हैं जो उनको भूल जाती हैं। मुझे तो अपनी ही सुधि नहीं फिर उनकी सुधि में किस प्रकार कर सकती हूँ। बात वास्तव में यह है कि मेरी सुधि उन कृष्ण में बसी है और मेरी सुधि में वे ही बसे हैं—

मुरति करों तौ बिसरे जो होँइ प्रान प्यारे,
वे तौ चित चढ़े रंग मूरति सदा रहैं।
सुधि करें वेई सुधि हू की ऐसी भूलि जाय,
वे सुधि किये तें सुधि माँझ या प्रकार है ॥
गूढ गति व्यौरिवे की भूलियौ मुरति मोहि,
रातिद्यौस छाये घन-आनन्द घटा रहै।
सुधि कबहू न आयै भूलेहू तनक नाँहि,
सुधि तिन ही में तेई सुधि में सदा रहै ॥

प्रेम के इस उदात्त रूप को दिखलाने में कवि ने अपने हृदय की गहरी पैठ का अच्छा परिचय—दिया है। किस प्रकार वियोगिनी के आन्तरिक प्रेम की अनन्यता का रूप कवि के द्वारा मूर्तिमान कर दिया गया है। यदि वियोगिनी बेसुध है तो भी उसका प्रियतम सदा उसकी आँखों में बसा है। भाव की इसी असीमता और व्यापकता के कारण कवि को महाकवि की संज्ञा दी जाती है। घनानन्द ने भावों के अनेक रूपों को अपने वाक्य में इस मुन्दरता के साथ संजोया कि उनको देखकर अनायास ही उनकी महानता स्वीकार करनी पड़ती है। एक भाव को कवि ने विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है। आँखों की कृष्ण वियोग में क्या दशा है ? हृदय की क्या अवस्था है ? बुद्धि भी अब पंगु होगई तथा कृष्ण को खोजे बिना अब चेतना भी वापस नहीं आयेगी। प्रिय के न आने पर विरहिणी को एक खीज पैदा होती है। किन्तु उस खीज का यह तात्पर्य नहीं कि वह प्रियतम को भला बुरा कहे। वह तो उसके दर्शनों को पाने की उत्कट लालसा के परिणाम स्वरूप ही है। विरहिणी कहती है कि यह मेनत्र न जाने कब से प्रतीक्षा कर रहे हैं किन्तु इनकी साथ पूरी नहीं हुई अब तो यही समझ में आता है कि इन नेत्रों को फाड़ ही दूँ तो सम्भवतः इनको कदा प्रिय के दर्शन हो जायें। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ ? प्रतीक्षा करने २ साहस भी खो बैठी अब तो मेरी समझ में यही आता है कि या तो अग्नि में कूट कर उन प्राणों को समाप्त कर दूँ अथवा पानी में गिरकर अपने जीवन का अन्त कर दूँ। अब कब तक उन प्राणों को इसी वेदना से पीड़ित करता रहूँ। मैं तो तुमको सब स्थानों पर देख चुकी केवल पृथ्वी का भीतरी भाग और आकाश ही शेष रह गये हैं। क्या पृथ्वी में घुसजाऊँ और आकाश को भी चीर डालूँ—

‘जो घन आनन्द ऐसी रुनी तो कदा बस है अहो प्रानसि पीरों।

पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरनी में घुसूँ कै अकामदि जीरों ॥

कला-पक्ष के विभिन्न उपकरण :—इस प्रकार घनानन्द ने विरहिणी के हृदय के अनेक भावों को इस मुन्दरता के साथ प्रदर्शित किया है कि उसकी सगहना करनी पड़ती है। यह कहा जा चुका है कि उनके नायकत्व का मूल कारण यह है कि उनका कला-पक्ष भी उन भावों के अनुकूल ही है। घनानन्द की

भाषा की स्वाभाविकता और सरलता उनके भावों का उत्कर्ष करने में अधिक सहायक रही है। घनानन्द ने अलंकारों और अनुप्रासों को जागरूक होकर काव्य में स्थान नहीं दिया वह तो उनके भावों के वेग के साथ स्वयं चले आये हैं। घनानन्द को शब्दों की शक्ति का पूरा ज्ञान था इसलिये उनके लाक्षणिक और व्यंग्य प्रयोग उनके भावों को उभाड़ने में अधिक सहायक हुये हैं। उक्तियों की विचित्रता का तो इतना सुन्दर प्रयोग है जिसकी प्रशंसा नहीं की जाती। मुहाविरे और लोकोक्तियों को भी इस महान् कलाकार ने बड़ी सुन्दरता और उपयुक्तता के साथ व्यवहृत किया है। इस प्रकार महाकवि घनानन्द के काव्य में जिस प्रकार हृदय की गहरी पैठ थी उसी प्रकार कला-पक्ष की कुशलता भी उच्चकोटि की थी। किन्तु कवि ने कभी भावों के भारिल करने को इन कला-पक्ष के उपकरणों को नहीं अपनाया। कुछ उदाहरणों के द्वारा इनके कला-पक्ष का समन्वित रूप स्पष्ट हो जायेगा कि किस प्रकार इन्होंने अलङ्कारों और अन्य उपादानों का व्यवहार किया है।

कला का समन्वित रूप :—घनानन्द का काव्य प्रत्येक दृष्टि से सन्तुलित काव्य है। कवि ने मनोवेगों के चित्रण के साथ २ कल्पना का रंग भी इस प्रकार चढ़ाया है कि वह उसके चित्रों को अत्यन्त स्पष्टता प्रदान करता है। अतः प्रकृति के अङ्कन को कवि ने जिन साधनों से जुटाकर रखा है वह इस बात का परिचायक है कि कवि का ध्यान भावोत्कर्ष की ओर ही अधिक रहा। ऐसा नहीं हुआ कि भाव-पक्ष कला-पक्ष के कारण दब गया हो अथवा कलापक्ष ने चमत्कार का रूप धारण कर लिया हो। अलङ्कार और अनुप्रासों की छटा यदि दिखलाई देती है तो वह भावों की उच्चता को स्पष्ट करने के लिये ही। घनानन्द की अभिव्यक्ति जिस प्रकार सरल और स्वाभाविक है उसी प्रकार उनका कलापक्ष भी अत्यन्त सरल और स्वाभाविक होते हुये भी उच्चकोटि का है। रूप का चित्रण करते हुए कवि ने जो सफलता दिखाई है वह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी—

भलकै अति सुन्दर आनन गौर

छुके दृग राजत कानन छूवै ।

हँसि बोलन में छवि फूलन की

वरसा, उर ऊपर जाति है हँ ।
 लट लोल कपोल कलोल करै
 कल कंठ बनी जल जावलि द्वै ।
 अङ्ग अङ्ग तरङ्ग उठै दुति की,
 परि है मनौ रूप अबै धरिचै ।

सौन्दर्य को किस प्रकार मूर्तिमान करके कवि ने दिखाया है । नेत्रों की विशालता दर्शनीय हैं । हँसी की स्निग्धता फूलों के समान है जो अत्यन्त ही मोहक है । अङ्ग अङ्ग से कान्ति की छटा प्रस्फुटित हो रही है ऐसा प्रतीत होता है कि मानो रूप का रस कहीं चू न पड़े । रूप और सौन्दर्य दोनों का वाच्य-चित्रण इस प्रकार से किया है कि उसका आन्तरिक प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । अन्तिम पंक्ति में 'परि है मनौ रूप अबै धरिचै' का प्रयोग बड़ा सार्थक है । एक ओर भाव को स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर उत्प्रेक्षा अलङ्कार की भी छटा है । तीसरी पंक्ति, 'लट लोल कपोल कलोल करै कल कंठ बनी जल जावलि द्वै' में अनुप्रास का कितना सुन्दर प्रयोग है । भाषा की सरलता और मधुरता के साथ २ प्रवाहशीलता भी किन्तनी उपयुक्त है ।

भाषा की भावोनुकूलता और अनुप्रास तथा अलङ्कारों का प्रयोग घनानन्द के हृदय की भावधारा के प्रवाह के साथ ही निकले हैं । उनको उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा । इसके अतिरिक्त शब्द भावों की उत्कृष्टता में सहायक है । राधा कृष्ण की जिस तल्लीनता के साथ प्रतीक्षा करती है उसको जो चित्रोपमता इस महाकवि ने दी है वह अपनी समता नहीं रखती—

भोर तें सौंभ लों कानन ओर निहारति वावरी नैकु न हारति ।
 सौंभ ते भोर लों तारन ताकिवो तारनि सों इकतार न टारति ।
 ज्यौ कहुँ भावतौ दीठ परै घन-आनन्द आँसुन औसर गारति ।
 मोहन सौहन जौहन की लगियै रहै आँखिन कै उर आरति ॥

उपर्युक्त सबैया घनानन्द के कलाकौशल के उच्च स्तर का परिचायक है । पूर्वानुरागिनी नायिका राधा के प्रेम की विभोरता और तल्लीनता को किस

उच्चता के साथ प्रदर्शित किया है। भावों की अतिशयता के साथ २ कला के सजाने की कौन सी सामग्री ऐसी है जिसे कलाकार ने न जुटाया हो। अलङ्कार अनुप्रास, भाषा सौंदर्य सभी का समन्वित रूप उस में कवि के द्वारा रख दिया गया है। द्वितीय पंक्ति तो कला की दृष्टि से इतनी उच्च है कि रीतिकालीन कवियों की कला भी इसके सन्मुख भारिल और प्रयत्नसाध्य प्रतीत होगी। तीसरी पंक्ति का भाव भी कवि की मौलिक देन है। कल्पना के द्वारा कवि ने भाव को मूर्त्तिमान कर दिया है।

नायिका प्रेमोन्मत्त होकर बेसुध हो गई है उसको अपनी दशा का तनिक भी होश नहीं। उसकी दशा इतनी बिगड़ गई है कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्रेम के कारण इस अवस्था को पहुँची है अथवा उससे भूत प्रेत लग गये हैं। कवि ने भाव के प्रदर्शन में कला-पक्ष को भी भावों के अनुकूल ही रखा है। सगलता और स्वाभाविकता कवि का साथ नहीं छोड़ती—

खोय गई बुधि, सोय गई सुधि, रोय हँसै उन्माद जग्यौ है।
मौन गहै चकि चाक रहै, चलि बात कहै, तै न दाह दग्यौ है।
जानि परै नहि जान ! तुम्हें लखि काहि कहा कछु आहि खग्यौ है।
सोचनि ही पचिये घनआनंद हेतु पग्यौ किधौ प्रेत लग्यौ है॥

प्रेम से पीड़ित विरहिणी की दशा का कितना सजीव चित्रण है। अनुप्रास की छुटा और सन्देह अलङ्कार का कितना सुन्दर सामंजस्य है।

इस प्रकार घनानन्द के काव्य में अनेकों उदाहरणों से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि उनका काव्य सौंदर्य केवल एक पक्ष पर ही आधारित नहीं था। भाव तो उनकी रचनाओं में सर्वदा उच्चकोटि ही का रहा किन्तु कला-पक्ष भी किसी प्रकार गौण अथवा ग्लिवाड़ मात्र नहीं। वह भी भावपक्ष के साथ कव्ये से कन्या भिड़ाकर चलता है और यही उनकी सफलता का कारण तथा उनको रीति की परम्परा से अलग ले जाने का कारण है।

भाषा की सङ्गीतात्मकता भी घनानन्द के काव्य सौंदर्य के उत्कर्ष का प्रमुख कारण रही है। शब्द की ध्वन्यात्मकता के कारण जो उनकी रचनाओं में प्रवाहशीलता है वह अत्यन्त अनूठी है। विरह व्यथित हृदय इस दशनीय

अवस्था को प्राप्त हो चुका है कि अब वह पवन के द्वारा ही अपने प्रियतम के चरणों की धूलि को मँगाना चाहता है। भाषा की सजीवता और प्रवाह शीलता के कारण कवित्त में जो संगीतात्मकता आई है। वह विरह जन्य पर-वशता को किस प्रकार स्पष्ट करती है—

ऐरे वीर पौन ! तेरौ सबै और गौन, बारी
तो सौ और कौन, मनैं दरकोंही बानि दै ।
जगत के प्रान ओछे, बड़े तो समान धन—
आनन्द—निधान सुखदान दुखियान दै ॥
जान उजियारे गुन—भारे अन्त मोही प्यारे,
अब हूँ अमोही बैठे, पीठि पहचान दै ।
बिरह—बिथाह मूरि, आखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की हा हा नेंकु आनि दै ॥

शुक्ल जी इस कवित्त की भाषा की संगीतात्मकता पर अत्यन्त लट्टू थे। उनके कथनानुसार इस कवित्त से मृदंग की ध्वनि ध्वनित होती है। किन्तु इसी एक कवित्त में क्या धनानन्द का काव्य इसी प्रकार की भाषा से ओत प्रोत है। भाषा की सङ्गीतात्मकता के कारण ही इनके सबैया और कवित्त पाठकों को इतना तन्मय कर देते हैं कि कभी २ वह इन रचनाओं से सङ्गीत का आनन्द ही लेते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धनानन्द का काव्य भाषा और कला दोनों के सामंजस्य को लेकर ही चला है। कहीं पर भी कवि का ऐसा प्रयास नहीं कि उसने केवल कलापद्ध का प्रदर्शन किया हो अथवा भाषा के सजाने का कोई प्रयास किया हो। उनका काव्य हृदय के वास्तविक उद्गारों की अभिव्यक्ति है और उस अभिव्यक्ति को जिस कला के द्वारा सजाया गया है वह कला भी स्वाभाविक और सरल ही है। धनानन्द का काव्य इस प्रकार उन उत्तम काव्यों में आता है जो कवि के प्रयास के बिना ही भावना की तरंगों के उठने पर रचे जाते हैं।

(विद्यापति, सूर, तुलसी आदि महाकवियों के काव्य इसलिये ही सफल हैं कि उनमें भाव और कलापद्ध की सामग्री का प्रयोग संतुलित रूप में है। धना-

नन्द के काव्य में भी इसी प्रकार का संतुलन विद्यमान है। केवल कला का प्रदर्शन जैसा कि रीतिकाल के कवियों की रचनाओं में मिलता है घनानन्द के काव्य में नहीं मिलता। शब्दालंकार को कवि ने कहीं भी अधिक महत्व नहीं दिया। यदि शब्दालंकारों का प्रयोग कहीं पर हुआ है वह भी उनके भावों को उच्चता प्रदान करता है। बिहारी और सेनापति के समान चमत्कार और कला-बाज़ी का प्रदर्शन घनानन्द के काव्य में खोजने पर भी नहीं मिलेगा। उनका एक भी कवित्त और सर्वैया इस प्रकार का नहीं जिससे यह प्रकट हो कि उसमें कवि ने अपनी बुद्धि का प्रयास किया है।

कला-पक्ष और उसके विभिन्न उपकरणों का प्रयोग—

८ अलङ्कारः—अलङ्कारों का कविता में एक महत्व पूर्ण स्थान है। कवि की कल्पना की ऊँची उड़ानें इन्हीं के प्रयोग से काव्य में स्थान पाती हैं। यदि यह कहा जाय तो उचित होगा कि अलङ्कार ही कवि कल्पना के रूप को स्पष्ट करने का साधन है। भावों के प्रदर्शन में कवि की कल्पना न जाने कहाँ कहाँ से सादृश्य और समानता का आरोप कर इन अलङ्कारों का सृजन करती है। कभी विरोध के द्वारा भावों को उभार कर उन्हें मूर्तिमत्ता प्रदान करती हैं। अलङ्कार वास्तव में कविता कामिनी के आभूषण हैं। किन्तु यह आभूषण यदि भार रूप बनकर लद जाते हैं तो काव्य के स्वाभाविक स्वरूप में भी बाधा डालते हैं। सफल कलाकार का कर्तव्य है कि वह इन अलङ्कारों का प्रयोग केवल काव्य की आत्मा भाव के उत्कर्ष के लिये ही करे जिस प्रकार एक सुन्दर स्त्री का उपयुक्त शृङ्गार उसकी परिष्कृत मनोवृत्ति का परिचय देता है उसी प्रकार काव्य में अलङ्कारों का उपयुक्त प्रयोग काव्यगत भावों की उच्चता को प्रदर्शित करने में सहायक है। घनानन्द ने अपने काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग किया है किन्तु वह अलङ्कार उनकी कला की उच्चता को ही प्रदर्शित करते हैं। उनके काव्य में साम्यमूलक और विरोध मूलक सभी प्रकार के अलङ्कारों का प्रयोग है। विरोध-मूलक अलङ्कारों की प्रधानता उनके काव्य में अधिक है। विरोध और विरोधाभास की तो इतनी भरमार है कि उनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है। इसके अतिरिक्त उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा संदेह, भ्रम, अपन्हुति, असंगति आदि अनेकों

अलङ्कार भरे पड़े हैं। अब देखना यह है कि कवि का यह अलङ्कार विधान कहीं रीतिकालीन कवियों के समान केवल चमत्कार और पांडित्य का प्रदर्शन मात्र तो नहीं है। सर्व-प्रथम विरोधाभास और विरोध को ही लेना चाहिये क्योंकि इनका प्रयोग कवि ने अधिक किया है। वियोगिनी के जीव को उसके प्रियतम ने पतंग बनाकर आशारूपी आकाश में अवधि रूपी डोर में बाँधकर उड़ा दिया। उन्होंने उसके प्राण रूपी पतंग को बड़े चाव से ढील देकर उड़ा दिया है। किन्तु यह 'उड़ायक' इस पतङ्ग को अपनी ओर नहीं खींचता यद्यपि यह वियोग की वायु की अधिकता से फटी जा रही है। उस विरहिणी को आश्चर्य इस बात का है कि उसके प्राण रूपी पतङ्ग उसके प्रियतम के हाथ में रहते हुये भी उनका सामीप्य सुख प्राप्त नहीं कर पाते। विरह रूपी समीर की झकोरों में प्राण रूपी पतङ्ग चंचल हो रहे हैं और स्नेह रूपी अश्रुजल से यह प्राण भीग गया है फिर भी के आशा रूपी आकाश में छाये हुये हैं।

विरोधाभास की छुटा के द्वारा दो स्थान पर भाव में उत्कर्ष लाने का कितना सुन्दर प्रयोग कवि ने किया है—१ [हाथ साथ लाग्याँ, पै समीप न कहूँ लहै' के द्वारा प्रेम के इस भाव को व्यंजित किया है कि मन प्रिय के हाथ में रहते हुए भी उनका सामीप्य सुख प्राप्त नहीं कर सकता। २—'नेह-नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड़्यौ रहै' में स्नेह रूपी नीर के भीगने पर भी मन न जाने क्यों उड़ रहा है। इस प्रकार विरोध के द्वारा भाव की उत्कृष्टता के दर्शन बड़ी ही सुन्दरता के साथ कराये हैं। साथ ही न जाने कितने अन्य अलंकारों को भी बड़ी स्वाभाविकता के साथ प्रदर्शित किया है। रूपक तो सर्वत्र पद में ही है। नीर.....रहें में तीसरी विभाना भी स्पष्ट है। साथ ही भाव की उच्चता भी अपनी समता नहीं रखती।

आस ही आकास मधि अवधि—गुनै बड़ाय

चोपनि चढ़ाय दीनौ, कीनौ खेल सो यहै।

निपट कठोर ये हो एंचत न आप ओर,

लादिले मुजान सो दुहेली दसा को कहै ॥

अचिरजमई मोहि भई धन—आनन्द यों,

हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहूँ ।
 विरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह,
 नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुड़ी लौं उड़्यौ रहै ॥

विरोधाभास भी अकेला नहीं आता और भी अलङ्कार उसके साथ २
 अनायास ही चले आते हैं । नीचे सवैये में अलङ्कारों का प्रयोग कितना
 स्वाभाविक है—

घन-आनन्द जीवन मूल सुजान की कौधन हूँ न कहूँ दरसै ।
 सु न जानिये धौं कित छाय रहे दृग-चातिग-प्रान तपे तरसैं ॥
 बिन पावस तो इन्हें थ्यावस होन, सु क्यों करि ये अब सो परसैं ।
 बदरा बरसैं रितु पै धिरि के नित ही अँखिया उघरी बरसैं ॥

अन्तिम पंक्ति—‘बदरा बरसैं.....उघरी बरसैं’ में विरोधाभास का सुन्दर
 प्रयोग है और पूरे पद में श्लिष्ट रूपक है ।

विरोध का एक उदाहरण और देखिये—जब से प्रिय को देखा है उस
 समय से प्रेयसी की जो दशा हो रही है उस को अलंकार के प्रयोग ने कितना
 मार्मिक बना दिया है—

जे तो घट सोधों पै न पाऊँ कहों आहि सो धौं
 कोधौं जीव जारै अटपटी गति दाह की ।
 धूम कों न धरें गात सीरौ परै ज्यों ज्यों जरै,
 ठरै नैन नीर बीर ! हरै मति आह की ॥
 जतन बुझे हैं सब जाकी भर आगें, अब,
 कबहुँ न दबै भरी भभक उमाह की ।
 जब तें निहारे घन-आनन्द सुजान प्यारे,
 तबतें अनोखी आगि लागि रही चाह की ॥

जब से आनन्द के घन (कृष्ण) को देखा है उस समय से यह प्रेम की
 अग्नि और भी अधिक तीव्र हो गई है । बादलों को देखकर अन्य आग तो
 मंद पड़ जाती है किन्तु यह प्रेम की आग कुछ इस प्रकार की है कि यह बादलों

को देखकर और भी अधिक तीव्र हो जाती है ! व्यतिरेक अलंकार के द्वारा प्रेम की आग को सामान्य आग से अधिक बढ़ी चढ़ी बताया है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति में भी विरोधाभास को कितनी सफलता पूर्वक दिखाया गया है—

‘भूँट की सचाई लाखों त्यों हित कचाई पाक्यों,
ताके गुनगन धन—आनन्द कहा गनों ।

‘भूँट की सचाई लाखों.....पाक्यों’ में विपरीत-लक्षणा से विरोधाभास की सुन्दर झलक है ।

प्रिय के दर्शनो से आँखों को अग्नि हो नही होती चाहे वह प्रियतम को कितना ही देखती रहें । अब इन आँखों की दशा कुछ इस प्रकार की होगी है जैसे कोई भस्मक रोग का आठमी खाना अधिक चाहता है किन्तु उसको लंघन करने पड़े—

‘देखिये दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघनि करति है ।’

[स्नेह को सभी कवियाँ ने मुख देने वाला और रस से भिक्त करने वाला कहा है । किन्तु घनानन्द का नायिका के हृदय में स्नेह युक्त बातों को सुनकर अग्नि प्रज्ज्वलित होने लगती है तथा ज्वाला के अनेकों समूह मशाल की भाँति जलने लगते हैं—

‘[स्नेह-भीजी बातें रसना पे उर-आँच लागीं]
जागें धन-आनन्द ज्यों पुंजन मसाल है ।

अन्य अग्नि तो चिनगारी निकालती हैं किन्तु इस विरह की अग्नि में नेत्रों में अश्रुजल की वर्षा होती है । चाँदनी शीतलता प्रदान करने वाली होती है किन्तु उस विरहिणी को चाँदनी भी अग्नि के समान दग्धकारी प्रतीत होती है । इसके अतिरिक्त अग्नि की भूर तो नीचे से ऊपर की ओर चलती है किन्तु उस विरहिणी को चाँदनी रूपी ज्वाला ऊपर से नीचे की ओर आकर जलाती है—

‘है विपरीत महा धन आनन्द अम्बर तें धर कों भर लाई ।

जारति अङ्ग अनङ्ग की आंचनि जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई ॥

इसी प्रकार कटाक्षों के वाणों को भी कवि ने विरोधाभास के द्वारा सामान्य वाणों से अद्भुत कहा है । सामान्य वाणों को देखकर मनुष्य को भय लगता है किन्तु कटाक्ष रूपी बाण मन को अत्यन्त अच्छे लगते हैं—

‘चलत सजीवन सुजान दृग-हाथन तें,

प्यारी अनियारी रुचि रखवारी ओट हैं ।

जब जब आवै तब तब अति मन भावै

अहा कहा विषम कटाक्ष-सर-चोट है ॥’

प्रिय के दर्शनों की प्यासी आँखें न जाने कहाँ से अश्रुओं की इतनी लम्बी धारा को प्रवाहित कर रही है । प्यासी स्वयं है किन्तु उन्हीं के द्वारा पानी भी बहाया जा रहा है कैसी विरोधी बात है—

‘प्यास भरी बरसं तरसैं मुख देखन कौ अखियाँ दुखियाई ।’

धनानन्द की विरहिणी अन्य विरहिणियों से अनोखी है । अन्य विरहिणी तो विरह में ही अपने प्रियतम से अलग रहती हैं किन्तु इस के संयोग में भी विरह के समान ही प्रियतम में दर्शनों में बाधा पड़ती है । धनानन्द ने किस चतुरता के साथ वियोगिनी की परवशता के भाव को व्यक्त किया है—

‘कौन वियोग भरे अँसुआ जो वियोग में आगेई देखन धावत’

वियोगिनी ने आँखों में उजड़ेपन को बसा रखा है । यह भी महान आश्चर्य की बात है कि उजड़ी हुई चीज़ को बसाया कैसे जा सकता है । लेकिन महा-कवि धनानन्द की विरहिणी की आँखों में तो इसी प्रकार का विरोध है—

‘उजरनि बसी है हमारी अखियाँ देखो,

सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ ।’

इसी प्रकार जल अङ्गों को जलाता है और राग के गाने से स्वर भंग हो जाता है तथा संपत्ति विपत्ति का कारण हो जाती है—

‘जल जरै अङ्ग, और राग, करै स्वर भङ्ग

संपति विपति पारै, बड़ी विपरीति है ।’

विरोधाभास अलङ्कारों के द्वारा कवि ने अपने काव्य में जो सौन्दर्य का उत्कर्ष किया वह हिन्दी के अन्य कवियों में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा । इस अलङ्कार पर कवि का एक मात्र अधिकार था । उनके काव्य में इस अलङ्कार के द्वारा अर्थ सौन्दर्य की सुन्दर योजना की गई है ।

रूपक के द्वारा भी कवि ने अर्थ को सौन्दर्य प्रदान किया है । कहीं पर अङ्गों की दशा को होली के राग-रंग के रूप में रूपक के सहारे दिखाया है कहीं पर शरीर के ऊपर ऋतुओं का ही आरोप कर दिखाया है । घनानन्द के काव्य में रूपक को भी अधिक महत्व दिया है । नायिका का शरीर पीला पड़ गया है ऐसा प्रतीत होता है उसके अङ्गों को कामदेव ने रङ्गकर होली खेली है । नेत्रों से अश्रुप्रवाह निकलकर पिचकारी का कार्य कर रहा है । उसके झटके बालों से प्रतीत होता है कि उनको किसी ने होली खेलते झकझोर दिया है इसलिये बाल बिखर गये हैं । विरह की अग्नि को हृदय में जलाकर नायिका ने होली के जलाने का उपक्रम किया है और जिस प्रकार नये अनाज को होली की आग में भूनते हैं, उसी प्रकार वह अपने प्राणों को होरा बना रही है । रूपक की सफलता का अच्छा उदाहरण है—

पीरी परि देह छीनी, राजति सनेह भीनी

कीनी है अनंग अङ्ग अङ्ग रङ्ग बोरी सी ।

नैन-पिचकारी ज्यों चलीकई करं दिन रैन,

बगराये वाग्न फिरत झकझोरी सी ॥

कहाँ लौं बग्यानों घन-आनन्द दुहेली दमा,

फागमई भई जान प्यारे वह भोरी सी ।

तिहारे निहारे बिन प्रानति करति होरा,

विरह-अङ्गारिन मंगार हिय होरी सी ॥

कहीं पर प्रिय की निष्ठुर नीति को शिकारी की नीति से भी अधिक निष्ठुर और कटोर कर दिखाया है । जिस प्रकार शिकारी चुगा डालता है

उसी प्रकार प्रिय ने भी कपट के प्रेम का चुगा डालकर उस विरहिणी को भी अपनी गुण रूपी रस्सी में फाँस लिया है। जिस प्रकार बहेलिया पंखों से हीन कर देता है उसी प्रकार प्रिय ने भी उसको असहाय कर दिया है। अब तक तो उसके प्राण रूपी ग्वग आशा रूपी वृक्ष पर बैठे थे किन्तु अब उनका वहाँ पर बैठना कठिन है क्योंकि प्रिय की मुन्दरना रूपी चुगा अब भी उनको लालायित कर रहा है—

अधिक बधिक तें मुजान रीति रावरी है,
कपट चुगौ दै फिर निपट करौ बुरी ।
गुननि पकरि लै निपौख करि छोड़ि देउ,
मरहि न जियै, महा विषम दया-लुखी ॥
हों न जानों कौन धौं ही यामैं सिद्धि स्वारथ की,
लग्यी क्यों मरित प्यारे अन्तर-कथा दुरी ।
कैसे आसा-द्रुम पै बसेरौ लहैं प्रान-खग
बनक निकाई धन-आनन्द नई जुरी ॥

वियोग में प्रानरूपी पखेरू रूप रूपी चुगे को देखकर फँसने को लालायित हो जाते हैं इसलिये वियोगिनी प्रिय से प्रार्थना करती है, कि अब तो अवधि रूपी दिवाकर का अस्त होने वाला है इसलिये मुखरूपी चन्द्र को दिखाने की कृपा करिये—

‘प्रान-पखेरू परे तगै लग्यि रूप-चुगौ जु फँदे गुन गाथन ।

+	+	+	+
+	+	+	+

देहु दिखाय दई मुख-चन्द्र लग्यी अब औधि दिवाकर आथनि ।

विरह के कारण नायिका के अङ्गों का सौंदर्य उसी प्रकार झड़ गया है जिस प्रकार कि पतझर में पेड़ों की दशा हो जाती है। विरहिणी के शरीर की दशा को रूपक के आधार से पतझर के समान दिखाने में महाकवि घनानन्द अत्यन्त ही सफल हुये हैं—

ललित तमालनि सों वलित नवेली वेलि,
 केलि-रस भेलि हँसि लह्यौ सुख सार है ।
 मधुर विनोद स्वेद जलकन मकरंद,
 मलय समीर सोई मोद उद्गार है ।
 वन की वनक देखि कठिन बनी है आनि,
 वनमाली दूर आली सुनै को पुकार है ।
 बिन घन-आनन्द सुजान अङ्ग पीरे परि,
 फूलत बसन्त हमें होत पतभार है ॥

साँग रूपक के द्वारा कवि ने कृष्ण की दशा का चित्रण वर्षाकालीन
 मेघ के समान बढ़ा ही सुन्दर किया है—

तेरे हित हेली ! अनुराग-बाग-वेली करि,
 मुरली-गरज भूमि-भूमि सरसत है ।
 लोने अङ्ग रङ्ग जानि चंचला छटा सों पट,
 पीत कों उमगि लै लै हिये परसत है ।
 चाह के समीर की झकोरनि अधीर हँ हँ,
 उमड़ि घुमड़ि याही ओर ढरसत है ।
 लोचन सजल क्यों हूँ उधरै न एकौ पल
 ऐसे नेह नीर घनश्याम बरसत है ॥

इसी प्रकार प्रेयसी की उमंग को रूपक के द्वारा व्यंजित करके अप्रस्तुत में
 प्रस्तुत के विधान का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है । प्रिय के आने की प्रस-
 न्नता के कारण जो प्रेयसी की अवस्था हुई है उसको कवि ने मूर्तिमत्ता प्रदान
 कर अपने कला-कौशल का अच्छा परिचय दिया है—

ललित-उमंग-वेली आलयाल-अन्तर तें,
 आनन्द के घन सींची रोम रोम हँ चढ़ी ।
 आगम उमाह-चाह छायाँ मु उल्लाह रंग,
 अङ्ग अङ्ग फूलनि दुकूलनि परै कदी ॥
 बोलनि बधाई दीरि दीरि कें छबीले दग,

दसा सुभ सगुनौती नीकें इन पै चढ़ी ।
 कंचुकी तरकि, मिले सरकि उरज, भुज,
 फरकि सुजान चोप-चुहल महा बढ़ी ॥

(इनके अतिरिक्त अन्य अलङ्कारों की छटा भी घनानन्द के काव्य में देखने योग्य है क्योंकि उनके अलंकार प्रदर्शन के पीछे भाव भी अपनी छटा बिखेर देते हैं)

वियोग की आग को साधारण आग से अनोखी कहा है और साधारण आग की हेयता भी दिखाई है । इस प्रकार महाकवि ने व्यतिरेक अलंकार की सुन्दर योजना की है साथ ही अपनी विशेषता-अन्तर्जगत का चित्रण भी कहीं निम्नकोटि का नहीं हुआ—

जे तो घर सोधों पै न पाऊँ कहों आहि सोधों,
 को धों जीव जाँरै अटपटी गति दाह की ।
 धूम कों न धरै, गात सीरौ परै ज्यों ज्यों जरै
 टरै नैन-नीर बीर ! हरै मति आह की ।
 जतन बुझे हैं सब जाकी भर आगैं, अब,
 कबहू न दबै भरी भभक उमाह की ।
 जबतं निहारे घन-आनन्द सुजान प्यारे
 तबते अनोखी आगि लागि रही चाह की ॥

एक ही छन्द में विरोधाभास, तीसरी विभावना और उपमा मिश्रित साव-यव रूपक सभी का समावेश है । साथ ही भावोत्कर्ष भी प्रदर्शित किया गया है । घनानन्द के काव्य में अलंकारों का आधिक्य भी भाव के लिये सहायक ही रहा है—

आस ही अकास मधि अवधि गुनै बढाय,
 चोपनि चढाय दीनौ, कीनौ खेल सो यहै ।
 निपट कठोर ये हो ऐंनत न आप ओर,
 लादिले सुजान सों दुहेली दसा को कहै ।
 अतिरज मई मोहिं भई घन-आनन्द यों,

हाथ साथ लाग्यो पै सर्माप न कहूँ लहै ।

विरह-समीर की भकोरनि अधीर, नेह—

नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड़्यौ रहै ॥

यथासंख्य अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण कवि ने दिया है । मीन और पतङ्ग के विषय में कुछ नहीं कहा केवल उनमें विरहिणी के प्रेम का आभास दिया है—

‘बिछुरे मिलै मीन पतङ्ग दसा कहा मो जिय की गति को परसै’

परिवृत्ति अलङ्कार का प्रयोग भी कवि ने भावाधिक्य में आकर ही किया है—

‘धन-आनन्द प्यारे मुजान मुनौ यहाँ एकते दूगरे आँक नहीं ।

तुम कौन धौ पाठी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥’

एक मन अर्थात् पर्याप्त मात्रा में तो ले लेते हो किन्तु उसके बदले में देते छटाँक भर भी नहीं । दूसरे शब्दों में मन जैसी बहुमूल्य वस्तु के बदले में एक कटाक्ष भी (छटाँक का उल्टा) नहीं देते ।

असंगति अलङ्कार का एक उदाहरण उनके काव्य सौंदर्य को दिखाने को पर्याप्त होगा । वैसे तो असंगति अलङ्कार का प्रयोग भी उनके काव्य में अनेक स्थानों पर किया गया है । कटाक्ष का प्रभाव बड़ा ही भयंकर होता है—

‘नैननि में लागै जाय लागै सो करेजे बीच’

अपनुति अलंकार को भी कवि ने अपने काव्य में स्थान दिया है—

‘जाग्न अङ्ग अनङ्ग की आँचनि जोन्ह नहीं मु नई अगिलाई ।’

उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अन्य अलंकार तो धनानन्द के काव्य में अनेक हैं । उनका उदाहरण देना आवश्यक नहीं । शब्दालङ्कारों में श्लेष, यमक आदि अलङ्कारों का प्रयोग कवि ने बहुत कम किया है । इसका कारण भी स्पष्ट है । कवि को उन अलंकारों को अपने काव्य में स्थान नहीं देना था जो कि चमत्कार मात्र के लिये व्यवहृत होते हैं । काव्य में शब्दालंकारों का प्रयोग केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिये ही होता है । रीतिकालीन कवियों ने शब्दालंकारों

के प्रयोग में अपनी रुचि अधिक दिखलाई थी । सेनापति ने तो इन अलंकारों को अपने काव्य में इतना अपनाया कि उन्होंने श्लेष वर्णन नाम से सैकड़ों पद लिख डाले । महाकवि घनानन्द का काव्य चमत्कार प्रदर्शन के दोष से सर्वथा वंचित रहा । उन्होंने तो अर्थ गौरव की ओर ही अपना ध्यान आकर्षित किया और उसी का परिणाम है कि उनके काव्य में अधिकतर अर्थालङ्कारों को ही स्थान दिया गया । फिर भी उनके काव्य में कहीं-कहीं शब्दालङ्कारों का प्रयोग भी किया गया है । यमक के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

१— मोही मोह जनाय के, अरे अमोही जोहि ।

सो ही मोही सी कठिन, क्यों करि सोही तोहि ॥

इसमें सोही और मोही शब्दों का प्रयोग भिन्नार्थक है ।

इसी प्रकार एक और पद में भी यमक का सुन्दर समावेश कवि प्रतिभा द्वारा किया गया है—

मानस को बन है जग पै,

बिन मानस के बन से दरसै हो ।

जे मन मानस ते सरसे तिन

सों मिलि मानस क्यों सरसे हो ॥

परिकुरांकुर का संश्लिष्ट चमत्कार कवि के द्वारा किया गया है—

‘मेरो मनोगथ हूँ पुरिये अरु हैजु मनोरथ पूरनकारी’

उपर्युक्त ‘मनोगथ’ शब्द में श्लेष की भी सुन्दर झलक है—मनोरथ का अर्थ मन का रथ हुआ और साथ ही अर्थ को ध्वनित करता है इसके अतिरिक्त अर्जुन का रथ कहने का कार्य भी ध्वनित होता है ।

अनुप्रासों पर तो घनानन्द का एकाधिकार था । इनके काव्य में अनुप्रासों की छुटा तो कदम कदम पर परिलक्षित होती है । अनुप्रासों के प्रयोग के कारण ही इस महाकवि ने अपने काव्य को सङ्गीतात्मकता प्रदान कर एक विकसित रूप दिया । भाषा की प्रवाहशीलता और तीव्रगति अनुप्रासों के प्रयोग के कारण ही है । एक नहीं इस प्रकार के अनेक उदाहरण उनके काव्य

में से दिये जा सकते हैं जहाँ अनुप्रासों का प्रयोग भी इनके काव्य को भावोत्कर्ष की ओर ले गया है—

‘सौँभ तैं भोर लों तारनि ताकिवो तारनि सोँ इक्तार न टारति’

नीचे की पंक्ति में ‘र’ और ‘वा’ की पुनरावृत्ति के द्वारा अनुप्रास की कितनी सुन्दर योजना महाकवि ने की है। साथ ही इन अनुप्रासों के द्वारा काव्य के भाव-पक्ष को भी उठाया है—

‘निरधार अधार है धार मैंभार, दर्द ! गहि बाँह न बोरिये जू।’

इसी प्रकार—

‘चाहे चाह चावनि चकोर भयौ चाहन ही,
मुखमा-प्रकास मुख मुधाधर पूरे को’

‘च’ के प्रयोग के द्वारा कवि ने अनुप्रास के सौंदर्य से भाषा की गति को अबाध धारा के समान तीव्र कर दिया है। अनुप्रास अपने कार्य को कवि की आज्ञानुसार ही कर रहे हैं साथ ही भावों की भी अवहेलना नहीं करते।

किसी किसी कवित्त को तो अनुप्रासों ने एक अपूर्व गति दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई निर्भर पहाड़ से अपती-पूर्ण गति से गिर रहा हो। नीचे विरहिणी के विरह-जनित उद्गारों को व्यक्त करते हुए कवि ने अनुप्रासों के प्रयोग के द्वारा उसकी हृदयगत खीज को प्रदर्शित कर दिखाया है—

कारी कर कोकिला कद्रों की बैर काढ़ति री
कृकि कृकि अबही करंजों किन कोरिलै ।
पैंड़े परे पारी थे कलापी निमग्नस ज्योंही,
चातक ! चातक त्यों ही तू हू कान कोरि लै ।
आनन्द के घन प्रान जीवन मुजान विना,
जानि कै अकेली सब धेगै दल जोरि लै ।
जौ लौं करै आवन विनोद मन भावन वे
तौ लौं रे हरारे धनगारे, घन धोरिलै ॥

[सम्पूर्ण कवित्त अनुप्रासों की लुटा में आवृत है। किन्तु चमत्कार के दर्शन

न होकर विरहिणी की वेवसी अथवा विवशता के ही दर्शन हैं। एक महाकवि की लेखिनी इसी प्रकार सर्वदा कला के प्रत्येक उपकरण का प्रयोग करती है जिससे उसके काव्य के भाव सौंदर्य में किसी प्रकार की कमी न आये। घनानन्द के काव्य में ऐसे स्थल ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेंगे जहाँ उन्होंने अनुप्रासों का प्रयोग चमत्कार प्रदर्शन के लिये किया हो।)

अनुप्रासयुक्त भाषा के लिखने की ओर घनानन्द का ध्यान सर्वदा रहा किन्तु साथ ही वह उस ओर भी जागरूक रहे कि अनुप्रास कहीं उनके काव्य को शब्दाडम्बर मात्र ही न बना दें। इसी जागरूकता का परिणाम है कि उनको सेनापति और पद्माकर के समान आलोचकों के द्वारा चमत्कार और वाह्य विधान का सफल कलाकार न कह कर अन्तर्वृत्तियों का कुशल चितेरा माना गया। इस बात को लेकर यदि उनके काव्य को खोजा जाय तो कहीं ऐसा स्थल नहीं मिलेगा जहाँ कवि भावनाओं के चित्रण को छोड़कर चमत्कार की ओर झुका हो।

अलंकार का प्रयोग काव्य में दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम तो वह अलंकार हैं जिनका कार्य चमत्कार प्रदर्शन है और उनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। शब्दालङ्कारों का कार्य चमत्कार प्रदर्शन करना ही है। और दूसरे प्रकार के अलंकारों के अन्तर्गत अर्थालंकार आते हैं जिनका प्रयोग भाव को हृदयंगम कराने के लिये ही होता है। महाकवि घनानन्द के काव्य में अर्थालंकारों का प्रयोग ही अधिक है। इससे भी स्पष्ट है कि घनानन्द का ध्यान भावव्यंजन की ओर ही अधिक रहा है। इस प्रेमी कवि को तो अपनी हृदय की झंकार को ही काव्य में रखना था। इसलिये इसको शब्द चमत्कार की क्या आवश्यकता थी। इसके हृदयगत भावों का प्रभाव ही कुछ इस प्रकार का है जिसके कारण पाठक का हृदय चमत्कृत हो जाता है।)

वाग्वैदग्ध्य और उक्ति वैचित्र्य—

[वाग्वैदग्ध्य और उक्ति की विचित्रता काव्य में अपना प्रमुख स्थान रखती है। जो कवि अपने कथन में अथवा अपनी भाषा में जितनी अभिव्यंजन शक्ति रखेगा उसका काव्य उतना ही उत्कृष्ट कोटि का होगा। महाकवियों की भाषा

में वाणी की इस शक्ति को अवश्य स्थान दिया जाता है। तुलसी सूर आदि कवियों की सफलता का प्रमुख कारण यही था कि उनके काव्य में उपर्युक्त दोनों विशेषताओं का समावेश पाया जाता है। रंगिकालीन कवि बिहारी की सफलता का तो प्रमुख कारण ही यही था कि उनके काव्य में वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य को प्रमुख स्थान दिया गया। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी की 'वाग्विभूति' नामक पुस्तक में बिहारी के इस गुण की प्रशंसा दिल खोलकर की है—“बिहारी में कला और भाव दोनों का सामंजस्य है। उनके कलापद्ध में वाग्वैदग्ध्य बहुत अच्छा पाया जाता है। जिस मन्तानी शैली से बिहारी ने अपनी सतसई की रचना की है वह कहीं अन्यत्र नहीं देखी गई। उनके वाग्वैदग्ध्य के कारण ही प्रत्येक युग के लोग नये नये अर्थ निकाल कर उसकी टीका करते रहे हैं।” बिहारी के उक्तिवैचित्र्य के विषय में मिश्र जी ने अपने विचार आगे इस प्रकार प्रदर्शित किये हैं—“बिहारी के उक्तिवैचित्र्य पर भी दृष्टि डालनी चाहिये। उक्तिवैचित्र्य से तात्पर्य दूर की कौड़ी लाने से नहीं बरन् किसी बात को स्पष्ट करने की युक्ति या मुद्रा, रूप आदि को अपनी निरीक्षण शक्ति से निरूपित करने की सामर्थ्य से है।”

उपर्युक्त उद्धरणों को केवल इसीलिए दिया गया ताकि इन दोनों—वाग्वैदग्ध्य और उक्तिवैचित्र्य के रूप को आसानी के साथ समझा जा सके। घनानन्द के काव्य में इन दोनों का समावेश पर्याप्त मात्रा है और यदि यह कहें कि इनके काव्य की उत्कृष्टता का कारण भाषा के इन दोनों गुणों का प्रयोग था तो अत्युक्ति नहीं होगी। महाकवि घनानन्द के काव्य में जो चमत्कार आया है उसका मूल कारण उनकी वाणी का वाग्वैदग्ध्य ही है। उनकी भाषा की अभिव्यञ्जन शक्ति के कारण ही उनको इतनी सफलता मिली है। किन्तु उसका कारण भी स्पष्ट है। घनानन्द को जिस प्रकार भावों के रूपों को व्यक्त करने की शक्ति थी उसी प्रकार उनकी भाषा भी उनके हाथ का खिलौना थी। भाषा पर उनका इतना अधिकार था कि वह चाहे जिस प्रकार के भावों को सरलता पूर्वक प्रकट कर देते थे। भाषा पर अधिकार होने के कारण ही इनका वाग्वैदग्ध्य भी प्रभावशाली बन पड़ा है—

‘नेह-भीजी बातें रसना पै उर आँच लागै’

‘नेह-भीजी बातें’ कहकर कवि ने अर्थ को द्विविधि रूप में दिखाकर कितनी सफलता दिखाई है। नेह में भी स्नेह और तेल दोनों अर्थों को निहित कर दिया है तथा ‘बातों’ का प्रयोग भी बचन और बक्तियों दो अर्थों के लिये हुआ है। इस प्रकार दो अर्थों को कवि ने बड़े ज़मत्कारपूर्ण ढंग से दिखाकर अपनी कला चातुरी का अच्छा परिचय दिया है। स्नेह से भीगी (तेल से भीगी) बातें (बक्तियाँ) ज्यों ही सुनाने को जीभ के ऊपर लाई जाती हैं उसी समय हृदय के भीतर से विरहाग्नि की ऐसी लपटें उनमें लगती हैं कि यह बातें (बक्तियाँ) मशालों की भाँति जलने लगती हैं। अर्थ के इस सौन्दर्य का श्रेय कवि के वाग्वैदग्ध्य को ही दिया जायगा।

घनानन्द का वाग्वैदग्ध्य उनके विरोधाभासों में बड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है। विरोधाभास अलंकार का प्रयोग जो इनके काव्य में इतनी प्रचुरता से से पाया जाता है उसका कारण भी वाग्वैदग्ध्य ही है। एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

जाहि जीव चाहै सो तही पै ताहि दाहै,
वाहि टूँडत ही मेरी मति गति गई खोय है।
करीं कित दौर, और रहौ तौ लहौ न ठौर,
घर उजारि के बसत बन जोय है ?
बनी आनि ऐसी घन-आनान्द अनैसी दसा,
जीवौ प्रान प्यारे बिन जागें गयौ सोय है।
जगत हँसत यों जियत मोहि तातै नैन,
मेरौ दुख देखि रोयौ फिर कौन रोय है।

उपयुक्त पद के अर्थ का सौन्दर्य वाग्वैदग्ध्य के कारण ही है। इसमें ‘जीवौ’ और ‘जगत’ शब्द का प्रयोग तो कवि की कला विषयक कुशलता का अच्छा उदाहरण है। जीवौ शब्द का अर्थ कवि ने रखा है—१—जीवित रहना और २—जीव, इसी प्रकार जगत शब्द के भी दो अर्थ हैं—१—जागते हुये और २—संसार। घनानन्द की इसी वाग्वैदग्ध्य का कारण है कि उनका काव्य चित्त को आकर्षित करता है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति भी उनके भाषा विषयक कौशल का सुन्दर उदाहरण है—

‘तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला

मन लेत हो देत छटाँक नहीं’

‘मन’ शब्द भी द्विआर्थक है। मन से तात्पर्य हृदय से भी है और ४० सेर से एक मन से भी। छटाँक का अर्थ है उल्टा करके कटा हुआ और वैसे १ सेर का सोलहवाँ भाग। दोनों प्रकार से अर्थ के सौन्दर्य में उत्कर्ष ही होता है।

इस प्रकार एक दो नहीं सैंकड़ों स्थान पर घनानन्द के वाग्वैदग्ध्य की छटा परिलक्षित होती है।

उक्ति-वैचित्र्य—काव्य में शब्द की लक्षणाशक्ति के द्वारा जो अर्थ में सौन्दर्य लाया जाता है वह अनूठा होता है। किन्तु रीतिकालीन कवियों के बहुत कम कवियों में कहीं २ लाक्षणिक प्रयोगों का अपनाया है। किन्तु महाकवि घनानन्द की प्रतिभा ने काव्य विषयक प्रत्येक सौन्दर्य को अपने काव्य में स्थान देया। उनके शब्दों में लक्षणा का भी सौन्दर्य अभूतपूर्व है। लाक्षणिक प्रयोगों के कारण इनके काव्य में अर्थ के व्योम की अपूर्व शक्ति आ गई है। शुक्ल जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है—“लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने इसके भीतर बहुत कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही से कवि हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह पौने दो दशक पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में अर्थात् वर्तमानकाल की तन काव्यधारा में ही ‘अभिव्यञ्जनावाद’ के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिये फट हुई।” (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४०५)

इससे स्पष्ट है कि घनानन्द ही एक ऐसे कवि थे जिन्होंने हिन्दी साहित्य में लाक्षणिक प्रयोग को सर्व प्रथम इतना महत्व दिया। छायावादी काव्य के तब जो लाक्षणिक प्रयोग इस काल में आया उसका प्रारंभ घनानन्द ने ही किया था। उनके काव्य में इस प्रकार के प्रयोग भरे पड़े हैं।

(अ) विरह की प्रबलता के कारण चाँदनी को कवि ने एक नई प्रकार की आग बना दिया है—

‘नेह-भीजी बातें’ कहकर कवि ने अर्थ को द्विविधि रूप में दिखाकर कितनी सफलता दिखाई है। नेह में भी स्नेह और तेल दोनों अर्थों को निहित कर दिया है तथा ‘बातों’ का प्रयोग भी वचन और बक्तियों दो अर्थों के लिये हुआ है। इस प्रकार दो अर्थों को कवि ने बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से दिखाकर अपनी कला चातुरी का अच्छा परिचय दिया है। स्नेह से भीगी (तेल से भीगी) बातें (बक्तियाँ) ज्यों ही सुनाने को जीभ के ऊपर लाई जाती हैं उसी समय हृदय के भीतर से विरहाग्नि की ऐसी लपटें उनमें लगती हैं कि यह बातें (बक्तियाँ) मशालों की भाँति जलने लगती हैं। अर्थ के इस सौन्दर्य का श्रेय कवि के वाग्वैदग्ध्य को ही दिया जायगा।

घनानन्द का वाग्वैदग्ध्य उनके विरोधाभासों में बड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है। विरोधाभास अलंकार का प्रयोग जो इनके काव्य में इतनी प्रचुरता से से पाया जाता है उसका कारण भी वाग्वैदग्ध्य ही है। एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

जाहि जीव चाहै सो तही पै ताहि दाहै,
 वाहि ढूँड़त ही मंगी मति गति गई खोय है।
 करौं कित दौर, और रहौ तौ लहौ न टौर,
 घर उजारि कैं बसत बन जोय है ?
 बनी आनि ऐसी घन-आनान्द अनैसी दसा,
 जीवौ प्रान प्यारे बिन जागें गयौ सोय है।
 जगत हँसत यों जियत मोहि तातै नैन,
 मेरौ दुख देखि रोयौ फिर कौन रोय है।

उपर्युक्त पद के अर्थ का सौन्दर्य वाग्वैदग्ध्य के कारण ही है। इसमें ‘जीवौ’ और ‘जगत’ शब्द का प्रयोग तो कवि की कला विषयक कुशलता का अच्छा उदाहरण है। जीवौ शब्द का अर्थ कवि ने रखा है—१—जीवित रहना और २—जीव, इसी प्रकार जगत शब्द के भी दो अर्थ हैं—१—जागते हुये और २—संसार। घनानन्द की इसी वाग्वैदग्ध्य का कारण है कि उनका काव्य चित्त को आकर्षित करता है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति भी उनके भाषा विषयक कौशल का सुन्दर उदाहरण है—

‘तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला
मन लेत हो देन छुटॉक नहीं’

‘मन’ शब्द भी द्विआर्थक है। मन से तात्पर्य हृदय से भी है और ४० सेर से एक मन से भी। छुटॉक का अर्थ है उल्टा करके कटाक्ष और वैसे १ सेर का सोलहवा भाग। दोनों प्रकार से अर्थ के सौन्दर्य में उत्कर्ष ही होता है।

इस प्रकार एक दो नहीं सैकड़ों स्थान पर घनानन्द के वाग्वैदग्ध्य की छुटा परिलक्षित होती है।

उक्ति-वैचित्र्य:—काव्य में शब्द की लक्षणाशक्ति के द्वारा जो अर्थ में सौन्दर्य लाया जाता है वह अनूटा होता है। किन्तु ऐतिहासिक कवियों के बहुत कम कवियों में कहीं २ लाक्षणिक प्रयोगों को अपनाया है। किन्तु महाकवि घनानन्द की प्रतिभा ने काव्य विषयक प्रत्येक सौन्दर्य को अपने काव्य में स्थान दिया। उनके शब्दों में लक्षणा का भी सौन्दर्य अभूतपूर्व है। लाक्षणिक प्रयोग के कारण इनके काव्य में अर्थ के व्योम की अपूर्व शक्ति आ गई है। शुक्ल जी का यह कथन अद्भुतः सत्य है—“लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने इसके भीतर बहुत कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य की जो छुटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में अर्थात् वर्तमानकाल की नूतन काव्यधारा में ही ‘अभिव्यञ्जनावाद’ के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिये प्रकट हुई।” (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४०५)

इससे स्पष्ट है कि घनानन्द ही एक ऐसे कवि थे जिन्होंने हिन्दी साहित्य में लाक्षणिक प्रयोग को सर्व प्रथम इतना महत्व दिया। छायावादी काव्य के भीतर जो लाक्षणिक प्रयोग इस काल में आया उसका प्रारंभ घनानन्द ने ही किया था। उनके काव्य में इस प्रकार के प्रयोग भरे पड़े हैं।

(अ) विरह की प्रबलता के कारण चाँदनी को कवि ने एक नई प्रकार की आग बना दिया है—

‘जारति आग अनंग की आँचनि जोन्ह नही सुनई अगिलाई’

(ब) अगसानि गही यह बानि कछू, सगसानि सों आनि निहारति हे ।

(स) विराध के द्वारा भी उक्ति के वैचित्र्य को प्रदर्शित किया है—

‘भूट की सचाई छाक्यो, त्यों हित कचाई पाक्यो,
ताके गुन गन घनआनन्द कहा गनौ ।

(च) उजरनि को बसाने का कैसा सुन्दर प्रयोग है—

उजरनि बसी है हमारी अँखियान देखा,
सुबस सुदेस जहाँ रावरे बसत हो ।

(छ) प्रेयसी की आँखों के सन्मुख जो संसार का घेरा था वह दृष्टि से हट गया—

‘उघरो जग, छाया रहे घन-आनन्द चातक ज्यों तकिये अबतौ’

✓(ज) प्रिय के वियोग में प्रेयसी की अवस्था अत्यंत दयनीय है । कवि ने किस प्रकार एक उक्ति के द्वारा ही उसकी अवस्था का परिचय दिया है—

‘अँखियाँ ये खुली ही रह जायेंगी’

✓(झ) प्रिय का चन्द्ररूपी आनन न देखने से वियोगिनी अमावस्या की रात्रि बनी हुई है—

‘जीवनि मूरति जान को आनन हैं बिन हेरे सदा ही अमाबस’

✓(ञ) प्रिय को अनेक मिल सकती हैं किन्तु प्रेयसी को एक प्रिय भी नहीं मिल रहा—

‘मोहि तुम एक, तुम्हें मोसम अनेक आहि,
कहा कछू चंदहि चकोरनि की कमी है ।’

प्रिय के लिये चन्द्रमा और प्रेयसी के लिए चकोर का प्रयोग करके कवि ने भावव्यंजना का कितना सुन्दर समावेश किया है ।

(ट) प्रेयसी के हृदय की अवस्था का चित्रण, ‘पात है वधूरे कौ’ कहकर किस अनुपमता से किया है । जिस प्रकार बवंडर में पत्ता नाँचता है इसी प्रकार प्रेयसी का हृदय भी विरह रूपी बवंडर में नाँच रहा है—

‘अब बिन देखे जान प्यारे यों अनन्दघन,
मेरौ मन भँवै मट्ट ? पात हूँ वधूरे कौ ।’

घनानन्द के काव्य में इस प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कहीं पर सुग्यों को ‘पखेरू’ बना कर उड़ाया है कहीं कटाक्षों को वाण बना दिया है, कहीं आशा को पेड़ बनाकर प्राणों को पत्ती बनाया है और उस पत्ती को आशा रूपी वृक्षपर बैठा दिया है। इन्हीं लाक्षणिक प्रयोगों के कारण उनकी भाषा को भावोत्कर्ष के दिखलाने का सुन्दर अवसर मिला है

मुहाविरे और लोकोक्ति-4

मुहाविरे और लोकोक्तियों के द्वारा काव्य में जो सौन्दर्य आता है वह भी अत्यन्त अनूठा होता है, भाव के द्योतन में लोकोक्तियों को प्रत्येक कवि ने अपनाया है। महाकवि कालिदास के काव्य में भी लोकोक्तियों का अत्यन्त महत्व दिया गया है—

जातं वंशे भुवनविदिने पुष्करावत्तकामां
जानामित्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोन ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरवन्धुर्गतोऽहं
यांचामोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा

अन्तिम पंक्ति की लोकोक्ति, ‘बड़े लोगों के यहाँ प्रार्थना निष्फल होवे तो भी वह नीच पुरुषों के यहाँ अभिलाषा पूरी होने से भी अच्छी है’ ने भाव के सौन्दर्य में जो चार चाँद लगाये हैं वह कवि की प्रतिभा को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार की लोकोक्तियों को विद्यापति ने भी बहुत अपनाया था—

‘दुख सहि सहि सुख पाओल ना’

तुलसी और सूर के काव्य में भी लोकोक्तियों का प्राधान्य है। महाकवि घनानन्द के काव्य में मुहाविरे और लोकोक्तियों का प्रयोग अधिकता से हुआ है। कहीं-कहीं पर तो भाव के उत्कर्ष का पूर्ण श्रेय इन लोकोक्तियों के ऊपर ही है। वहाँ पर न किसी प्रकार के अलंकारों का चमत्कार है और न भाषा आदि

के द्वारा ही भाव को उच्चता देने का प्रयास किया है किन्तु लोकोक्तियों का सहारा पाकर भाव उच्चता की चोटी पर चढ़ गया है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण घनानन्द के काव्य में देखे जाते हैं जहाँ लोकोक्तियों ने भाव-व्यंजना में सहायता दी है।

‘अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियेजू’

प्रेम को करने की प्रतिज्ञा करने पर कोई भी कुछ करे किन्तु फिर प्रेमी अपने प्रण पर अटल ही रहेगा।

निर्दय से निर्दय मनुष्य भी किसी को मारकर उसकी खबर लेता है किन्तु प्रिय की निष्ठुरता ऐसी है कि उसने प्रेयसी को अपने प्रेम के कारण मृतवत् ही बना दिया है किन्तु वह उसकी खबर तक नहीं लेता—

‘बधिकौ सुधि लेत, सुन्यो, हतिकें मति रावरी क्यों हू न सूझि परे।’

हृदय प्रेम में तो बिना सोचे-समझे कूद पड़ा। उस समय उसने किसी भी दुःख की कल्पना तक नहीं की थी किन्तु अब पछिताने से क्या होता है—

‘आगे न विचारथौ अब पाछें पछिताए कहा,

मान मेरे जियरा बनी कौ कैसो मोल है।’

[जिस प्रकार चक्रा अपने प्रेम में अनन्यता रखता है उसी प्रकार प्रेमिका भी कृष्ण रूपी चन्द्रमा के अतिरिक्त और किसी को नहीं देखती—

‘ऐसे उजागर हैं जग में परि चन्दहि एक चकोरहि देखै।’

कहीं-कहीं पर तो महाकवि के सम्पूर्ण पद में मुहाविरों की गुथे पड़े हैं—

‘जाहि जीव चाहै सो तहीं पै ताहि दाहै,

वाहि दूदत ही मेरी गति मति गई खोय है।

करौं कित दौर, और रहौं तौ लहौं न ठौर,

घर कौ उजारि कै बसत बन जोय है ॥

बनी आनि ऐसी घनआनंद अनैसी दसा,

जीवौ जान प्यारे बिन जागै गयो सोय है।

जगत हँसत यों जियत मोहि तातें नैन,

मेरै दुःख देखि रोयौ फिरि कौन रोय है ॥

(इस प्रकार के अनेकों कवित्तों को उद्धृत किया जा सकता है जिनमें लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से हुआ है) यदि कहा जाय कि घनानन्द ही एक ऐसे सफल कलाकार थे जिन्होंने अपने काव्य में उन सम्पूर्ण उपकरणों को अपनाया जो कि अर्थ सौन्दर्य और भावव्यंजना में अपनी शक्ति के द्वारा चार चाँद लगा सकते थे ।)

अमूर्त्त में मूर्त्तीकरण—~~घनानन्द~~ के काव्य में अमूर्त्त भावनाओं और चित्त वृत्तियों को भी मूर्त्तरूप दे दिया है । इस प्रकार की सफलता वही कवि प्राप्त कर सकता है जो अपनी विचक्षण प्रतिभा का प्रदर्शन कल्पना की ऊँची उड़ान के साथ कर सके । घनानन्द की कल्पनाशक्ति प्रखर ही थी । कृष्ण की वियोगजन्य दशा को कवि ने किस चतुरता के साथ मूर्त्तरूप में प्रस्तुत किया है । घनश्याम रूपी बादल अनुराग के उपवन को मुरली की गरज के साथ झुक-झुक कर सरस कर रहे हैं । उनके अङ्ग पर पीतपट बिजली के समान है । अभिलाषा रूपी समीर के कारण इसी ओर झुक रहे हैं । उनके अश्रुनीर से युक्त नेत्र एक क्षण को भी नहीं उधरते । इस प्रकार स्नेह रूपी नीर की वर्षा हो रही है—

तेरे हित हेली ! अनुराग - बागबेली करि,

मुरली गरज भूमि भूमि सरसत है ।

लोने अङ्ग रङ्ग जानि चंचला छटा सों पट,

पीत कों उमँगि लै लै हिये परसत हैं ॥

चाह के समीर की झकोरनि अधीर है है

उमड़ि धुमड़ि या ही ओर दरसत हैं ।

लांचन सजल क्यों हूँ उधरै न एकौ पल,

ऐसं नेह नीर घन श्याम बरसत हैं ॥

(शैशव और यौवन को कवि ने अत्यन्त कुशलता से रात्रि और सूर्य बना दिया है—

‘सिसुताई-निसि सियराई बाल-ख्यालन में,
जोवन-विभाकर-उदोत आभा है रली’)

(प्राणों को पखेरू और रूप को उनका चुगा तथा अबधि को दिवाकर बनाने की प्रतिभा महाकवि घनानन्द के ही पास थी—

‘प्राण-पखेरू परे तरफें लखि रूप-चुगगौ जु फन्दे गुन-गाथनि ।’

× × ×
× × ×

देहु दिखाय दई मुखचन्द लग्यौ अब औधि दिवाकर आथन ॥’

(विरह की दावाग्नि के कारण शरीर रूपी वन जलने लगा) यत्न रूपी पानी से उसका बुझाना असम्भव है। हृदय की दृढ़ता हट गई और साँस रूपी बाँस चटकने लगे तथा आशा जैसी लम्बी बेलि भी उद्वेग के भर में जलने लगी। दुख रूपी धुन्ध में प्राण रूपी पक्षी की साँस घुट रही है। अब तो तभी आपत्ति से छुटकारा पाया जा सकता है जबकि आलस्य रूपी अर्श (आकाश) को छोड़कर घनश्याम रूपी बादल प्रेम रूपी रस की वर्षा करें—

(विरह दवाग्नि उठी है तन बन बीच)

जतन सलिल के सु कैसे नीचियै परे ।

अन्तर - पुढाई फटै, चटकत साँस - बाँस,

आस - लाँबी लताहू उदेग - भर सों जरै ॥

दुख - धूम धूमरि में घिरें घुटें प्राण - खग,

अबलौ बचे हैं जौ सुजान तन कौ दरै ।

बरसि दरस घन आनंद अरस छाँड़ि,

सरस परस दै दहनि सब ही दरै ॥’

उपर्युक्त कवित्त में महाकवि ने विरह जलन, साँस, आशा, उद्वेग, दुख, प्राण, आलस्य तथा प्रेम आदि अमूर्त भावनाओं और मनोवेगों को मूर्त मान कर दिखाया है (इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनमें अमूर्त का मूर्तीकरण इसी सफलता के साथ दिखाया गया है।)

भाषा और छन्द—

घनानन्द की भाषा के विषय में कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। भाषा के ऊपर जितना अधिकार इस महाकवि को था रीतिकाल में केवल बिहारी ही ऐसे कवि हैं जिनकी समानता इस विषय में इनसे की जा सकती है। जिस प्रकार बिहारी ने दोहा छन्द को अपनी भाषा की कुशलता के कारण इतना सुन्दर रूप देकर अपने काव्य में प्रदर्शित किया उसी प्रकार सवैये और कवित्तों को घनानन्द ने भी इतनी सुन्दरता प्रदान की कि समस्त हिन्दी प्रेमी आज भी उन्हें पढ़कर विमोर हो जाते हैं। भाषा को भावानुकूलता देने में महाकवि घनानन्द को जो सफलता मिली वह उस काल के बहुत कम कवियों में पाई जाती है। यदि किसी उल्लास अथवा उमङ्ग की भावना को कवि ने अभिव्यक्त किया है तो उसकी भाषा भी अत्यन्त प्रवाहमयी है। हृदय की व्यथित-अवस्था को चित्रित करने में कवि की भाषा भी उन हृदयगत भावों को खोज-खोज कर निकालती हुई प्रतीत होती है। वस्तुओं के क्रिया-व्यापारों को कवि की भाषा बड़ी सफलता से चित्रित करती है। नीचे के अनुप्रासों का प्रयोग सार्थक हुआ है। 'लहकि-लहकि' शब्दों से वायु की गति का चित्र खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार 'दहकि-दहकि' से अग्नि की लपटों का चित्र सन्मुख आ जाता है—

(लहकि लहकि आवै ज्यों ज्यों पुरवाई पौन,
 दहकि दहकि त्यों त्यों तन तौँवरे तनैँ)
 बहकि बहकि जात बदरा बिलोके हियौ,
 गहकि गहकि गहबरनि हिये मचै ॥
 चहकि चहकि डारै चपला चग्वनि चाहै,
 कैसे घनआनंद मुजान बिन ज्यौ बचै ।
 महकि महकि मारै पावस - प्रसून बास,
 आसन उसास देया कौ लौं रहियै अचै ॥

शब्दों में जो अर्थद्योतन की शक्ति है वह कवि की भाषा विषयक जानकारी के लिये पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त ऊपर जो उनकी वाग्वैदग्ध्य और

उक्तिवैचित्र्य दिग्वाया जा चुका है वही कवि की भाषा विषयक जो अपूर्व शक्ति है उसे बताने में पूर्ण समर्थ है। इसके अतिरिक्त भाषा के माधुर्य और सरलता के दर्शन तो कवि की सम्पूर्ण रचना में भरे पड़े हैं। ब्रजभाषा की मयुरता को जितना उस कवि ने देखा उतना अन्य किसी भी कवि ने इतने व्यापक रूप में नहीं देखा। इनकी भाषा में अधिकतर शुद्ध और संस्कृत रूप के ही दर्शन हैं लेकिन कवि की प्रतिभा कुछ ऐसी विलक्षण थी कि वह किसी भी एक मार्ग को अवलम्बन करने में नहीं लगती थी। जिस प्रकार उनके काव्य में नये-नये भावों और कल्पनाओं को स्थान दिया गया उसी प्रकार भाषा में भी उन्होंने कितने ही नये प्रयोग किये। फ़ारसी शब्दों को इन्होंने इस प्रकार अपनाया कि उनको हिन्दी का ही बना लिया। इनके काव्य में फ़ारसी के शब्दों की भरमार है किन्तु उनके रूप कुछ इस प्रकार बना दिये हैं जो हिन्दी के ही शब्द प्रतीत होते हैं। इनके वियोग वर्णन में कुछ ऐसे शब्द पाये जाते हैं। 'वियोगवेलि' में भी फ़ारसी के शब्दों को कवि ने प्रयुक्त किया है। उसमें तो कवि ने छन्द भी फ़ारसी का ही अपनाया है। पंजाबी भाषा का समन्वय भी कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ दिखाया है—

सैन कटारी आसिक उर पर तें यारा भूक भारी है,
महर लहर ब्रजचन्द यार दी जिन्द असाड़ी ज्यारी है।

१. 'इश्कलता' पर भी फ़ारसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है—

पल-पल प्रीति बढ़ाय हुआ बेदर्द है।
आसिक उर पर जान चलाई कर्द है ॥
धनी हुई महबूब सुमरम न छोलिये।
आनन्द जीवन जान दया करि बोलिये ॥

फ़ारसी का यह प्रयोग भी इन्होंने इतनी सफलता के साथ किया है कि उससे इनकी यह मनोवृत्ति प्रतीत होती है कि यह प्रत्येक भाषा के शब्दों को हिन्दी में इस प्रकार अपनाना चाहते थे कि वह हिन्दी की ही सम्पत्ति बन जायें।

वास्तव में घनानन्द एक ऐसे कलाकार थे जो सौन्दर्य के प्रत्येक उपकरण को अपने काव्य में स्थान देते थे । भाव और कला पक्ष के सौन्दर्य विषयक जितने उपकरण हैं वह इनके काव्य में सभी पाये जाते हैं [भाषा की सुन्दरता को जितना घनानन्द ने देखा उतना अन्य किसी कवि ने नहीं देखा । उनके इसी रूप का वर्णन किसी प्रशंसक ने उचित ही किया है—)

(नेही महा ब्रज भाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै ।
जोग वियोग की रीति में कोविद भावना-भेद स्वरूप को ठानै)।
चाह के रंग में भीज्यो हियों बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै ।
भाषा प्रवीन सुछन्द सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै ॥

जिस प्रकार इनका भाषा पर अधिकार था उसी प्रकार छन्दों पर भी । सवैया और कवित्त इन दो छन्दों को ही इन्होंने सबसे अधिक अपनाया । किन्तु इन छन्दों में कहीं पर भी किसी प्रकार का दोष नहीं । रीतिकालीन कवि मतिराम और देव जैसे सफल कवियों में भी छन्द विषयक दोष पाये जाते हैं । किन्तु इनके छन्दों में किसी प्रकार का दोष नहीं । इनके कवित्तों की मस्तानी चाल पर शुक्ल जी भी विमोह हो गये थे ।

ऊपर के विवेचन से घनानन्द के काव्य के दोनों पक्षों का उन्नत रूप स्पष्ट हो जाता है । कवि ने अपने काव्य में कला पक्ष को भिन्न नहीं देखा वह तो उनके भाव पक्ष का सहायक ही रहा है । केवल एक दो स्थान पर ही वरन् उनके सम्पूर्ण काव्य में कला के समन्वित रूप-सौन्दर्य की ही भाँकी पाटक को होती है । भाव की उच्चता के साथ २ भाषा अलंकार अनुप्रास, तथा अन्य उपकरणों को भी कवि ने भाव-व्यंजना के लिये अपनाया है । उनकी यही संतुलित दृष्टि के फलस्वरूप ही उनको रीतिकालीन कवियों की कोटि में नहीं रखा गया । उनकी काव्य धारा उनके हृदय के मरल उद्गार मात्र ही थे । सफल कवि की कला अनुभूतियों के चित्रण को ही अधिक महत्व देती है । महाकवि घनानन्द का कला-कौशल उनको हिन्दी साहित्य के महान कलाकारों में स्थान देता है ।)

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति और मानव का साहचर्य—प्रकृति और मानव का आदिकाल से साहचर्य है। प्रकृति की सुरम्य गोद में ही मनुष्य ने अनेक प्रकार के ज्ञान विज्ञान के भण्डार को प्राप्त किया। उसी के द्वारा मानव-बुद्धि ने विकास के मार्ग का अवलम्बन लिया। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल यही मानव को जीवन-दायिनी शक्ति प्रदान करते रहे हैं और भविष्य में भी इनका ही आधार उसको लेना पड़ेगा चाहे वह कितना भी वैज्ञानिक विकास क्यों न करले। प्रकृति मानव की चित्तवृत्तियों को सर्वदा पोषक तत्व देती रही है। प्रकृति की महत्ता मानव सभ्यता के विकास में भी माननी ही पड़ेगी। हमारे प्राचीन साहित्य में ही नहीं वरन् वेदों में भी प्रकृति को ही अधिक महत्व दिया गया। सूर्य, वायु, आकाश और पृथ्वी को आर्यों ने देवताओं के रूप में इसीलिए स्वीकार किया कि यही उनको आदिकाल में जीवन-दायक प्रतीत हुये। इन्हीं की छत्रछाया में रहकर उनको आनन्द उपभोग करने का अवसर मिला। मानव ने इसीलिये इन्हीं को अधिक महत्व दिया। सूर्य की प्रार्थना की क्योंकि सूर्य के द्वारा ही उस प्रारम्भिक युग में प्रकाश और गर्मी मिलती थी। और उसी के द्वारा अन्न पकता था। वे मन्त्र आज भी सूर्य के महत्व को बतलाने में समर्थ हैं—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो
निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च
हिरण्येन सविता रथेन
आ देवोः यातिभुवनानि पश्यन्

सृष्टि के आदिकाल में मानव को जितना प्रकृति ने प्रभावित किया उतना अन्य किसी ने नहीं किया। ऋग्वेद में प्रकृतिके इन्हीं उपकरणों के प्रति मानव ने अपनी श्रद्धा का प्रकाशन किया है। वास्तव में प्रकृति के साहचर्य के कारण

ही मनुष्य की चेतना शक्ति को इतना बल मिला । अबोध बालक भी चन्द्रमा और सूर्य को देखकर उनकी ओर आकर्षित हो जाता है और अपलक दृष्टि से कुछ इस प्रकार देखता है मानो जीवन के पोषक तत्वों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर रहा है !

आदि-काल में मानव की सहचरी प्रकृति ही थी । वन, उपवनों में पुष्प-युक्त लताओं को वायु के थपेड़ों में नृत्य करते हुए देखना एक साधारण घटना रही होगी । भ्रमरों का रस लेते मस्त होकर गुनगुनाना ही मानव की अन्तरात्मा को सज्जीत के आनन्द से भर देता होगा । अनेकों श्वेत कलियों को देखकर मनुष्य ने हँसना सीखा होगा । लहलहाती लताओं को वृक्षों का आलिङ्गन करते देख मानव को भी अपनी प्रिया के आलिङ्गन की सुखद प्रेरणा मिली होगी । चन्द्रमा अपनी प्रिया रजनी को किस प्रकार आनन्द से प्रफुल्लित कर देता है और उसके वियोग में रजनी अन्धकारपूर्ण होकर ऐसी प्रतीत होती है मानो उस वियोग के कारण ही उस पर कालिमा का आवरण छा गया है । मानव ने भी इसी प्रकार की भावनाओं से अपने हृदय को संजोया । वह भी प्रकृति के क्रिया-कलापों में अपने क्रिया-कलापों को सीखता रहा । उसने अपने सौन्दर्य का मान-दण्ड प्रकृति को ही बनाया । चन्द्रमा की सुन्दरता उसने मुख को प्रदान की, पुष्पों की स्निग्ध स्वच्छता हँसी को दी । गुलाब का रंग मानव ने प्रिया के कपोलों में देखा । बिम्बाफल का रंग उसके आँधों में और दाढ़िम की शोभा उसके दाँतों को दी । हरिणी के नेत्रों को देखकर उसने अपनी प्रिया के नेत्र सौन्दर्य की कसौटी बनाया । कहने का तात्पर्य है कि मानव ने प्रकृति के उपकरणों का सौन्दर्य आदिकाल से ही सहेज कर रख लिया ।

प्रकृति को मानव ने अपनी सहचरी के रूप में निष्प्राण अथवा अचेतनावस्था में ही नहीं देखा वरन् वह भी उसी के समान सुख-दुःख का अनुभव करती थी । रात्रि में ओस कणों का गिरना उस वियोगिनी निशा के अश्रुकण हैं । ताराओं का छिटकना रात्रि की हँसी का प्रतीक माना । ऊषा आनन्द और आशाओं को लेकर आती है । किन्तु सन्ध्या की धूमिलता उसे निराशा के गर्भ में ले जाती है । प्रकृति के इन्हीं क्रिया-कलापों ने मानव को नाना भावनाओं

का संचित कोष थाती के रूप में सौंप दिया जिसे आज भी मनुष्य ने इस विज्ञान के युग में यत्नपूर्वक सहेज कर अपने हृदय में रख छोड़ा है ।

प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर मानव हृदय अभिव्यक्ति के लिये आकुल हो उठा और आदि कवि की वाणी अनायास ही फूट पड़ी—

मा निपाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समाः

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम ।

वह दिन भारतीय साहित्य में पुण्य स्मृति के रूप में अमर है जब आदि कवि प्रकृति की सुरम्य गोद में विहार करने वाले उस क्राँच पक्षी के जोड़े के मुक्त-विहार में बाधा पड़ते देख रो पड़ा था । करुणा की ऐसी वाग्धारा बही जो भवभूति के उत्तररामचरित में आकर अपने पूर्ण विकास पर पहुँच गई ।

महाकवि कालिदास के काव्य में प्रकृति के सौन्दर्याङ्कन का रूप अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया । उनके काव्य में प्रकृति को अनेक रूपों में देखा गया । महाकवि कालिदास ने गंगा और यमुना के प्रवाह को संगम पर इस प्रकार देखा मानो मोतियों की लड़ी में नीलम को पिरो दिया गया हो । कहीं पर गंगा का श्वेत जल और यमुना का श्यामल जल इस प्रकार का प्रतीत हुआ मानो श्वेत कमलों की पंक्तियों में नीलकमल बीच-बीच में आ गये हों ।

क्वचिप्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।

अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैस्तवचितान्तरेव ॥

क्वचित् खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीयपंक्तिः

अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शवलीकृतेव

अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेख्या रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥

(स्तुवंश)

प्रकृति की महत्ता को महाकवि कालिदास ने मुक्तकण्ठ से गाया और उसको अपने अनुकूल ही चेतन पदार्थ के रूप में स्वीकार किया । उन्होंने उसको मूक और अचेतन नहीं माना वरन् प्रकृति को मानव की भाँति संवेदनशील

और सहानुभूति से पूर्ण देखा । विरही को प्रकृति सान्त्वना और आशा प्रदान करती है—

आमत्रानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुकोशं मनसिजरुजः सद्यता पृच्छतेव ।
अग्रे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इदं व्यामृतो माधवेन ॥

जिस प्रकार मनुष्य में अनेक भावों का परिवर्तन होता है उसी के अनुरूप प्रकृति भी अपने अनेक रूपों में दिखाई पड़ती है । कभी वह प्रसन्न, कभी दुःखी तो कभी भयानक रूप में प्रस्तुत होती है । मानवीय भावनाओं के सामंजस्य में प्रकृति को देखना कवियों की परम्परा में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । महाकवि भवभूति ने प्रकृति के भयङ्कर रूप का चित्रण अत्यन्त ही उत्कृष्ट कोटि का किया है—

निस्कूजस्तिमताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृप्यदिभः प्रतिसूर्यकैरजगाम्बेददवः पीयते ॥

हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण—प्रकृति वर्णन की यह परम्परा हमारे हिन्दी साहित्य को उत्तराधिकार के रूप में मिली । वीरगाथा काल के कवियों में प्रकृति के दर्शन अनेक रूपों में होते हैं । भक्तिकाल में जायसी, तुलसी, सूर, कवीर आदि में प्रकृति का समावेश हुआ किन्तु अब प्रकृति के उस स्वतन्त्र रूप को मानव प्रकृति तथा मानव भावों की पृष्ठभूमि के रूप में ही प्रस्तुत किया जाने लगा । भक्ति काल में संश्लिष्ट चित्रों का अभाव रहा । कृष्ण का विहार-स्थल अवश्य प्रकृति की ही मुख्य गोद थी किन्तु उस प्रकृति को कृष्ण और राधा आदि अन्य गोपियों के भावों के अनुरूप ही अपना कार्य करना पड़ा । यदि कालिन्दी काली है तो कृष्ण के विद्याग के कारण, यदि बादल गरज रहे हैं तो गोपियों के विरह व्यथित हृदय को वेदना प्रदान करने के लिये । चंद्रमा जो सुख प्रदान करने वाली वस्तु है वह भी विरह में गोपियों को दुःख देने

लगा । पपीहा प्रिय का नाम लेने के कारण उनको प्रेम का अनन्य पुजारी प्रतीत हुआ । वह उसे आशीष देने लगी—

‘बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ’

कृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शोभा उनको प्रकृति के उपकरणों में ही दिखाई देने लगी—

कुन्तल कुटिल भँवर भरि भँवरि मालति भुरै लई ।
तजत न गहरू कियो कपटी जब जानी निरस गई ॥
आनन इन्दु बदन समुख तजि करखै तें न नई ।
निरमोही नहिं नेह कुमुदनी अन्तहि हेम हई ॥

काली रात्रि को विग्रह-व्यथिता गोपियाँ काली साँपिन के समान मानती हैं—

‘पिया बिन साँपिन कारी रात;

कबहु जामिनी होत जुनहैया डसि उलटी हूँ जाति ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकाल में ही प्रकृति उद्दीपन रूप में व्यवहृत की गई । रीतिकालके कवियों में प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही देखा गया किसी-किसी कवि ने प्रकृति को एक-दो स्थान पर स्वच्छन्द रूप में भी देखा किन्तु अधिकतर कवियों ने प्रकृति के उद्दीप्तकारी रूप को ही देखा । बागों में हरि के खेलने का महत्व अधिक था उस प्रकृति का उतना महत्व नहीं । यदि हरहराती लता, समीर के भोकों के कारण झुकती हैं तो केवल इसीलिए कि वहाँ प्रिय अपनी प्रेयसियों के साथ विहार कर रहा है ।

बिहारी, सेनापति, मतिराम आदि सम्पूर्ण कवियों ने प्रकृति को अपनाया किन्तु उसके उद्दीपनरूप को ही अधिक महत्व दिया गया । प्रकृति के उपकरणों के द्वारा नायिका की वेशभूषा को सजाया गया । उसके चपल नेत्रों की शोभा पवन से हिलते कमलों में देखी गई । शैशव और यौवन की सन्धि प्रातः काल की भौँई के समान मानी गई । कभी कुन्द कलियों से नायिका का शृङ्गार कराया गया । कभी-कभी नायिका के नेत्रों के सन्मुख कमल को भी हेय सिद्ध किया गया । सघन कुंजों और उनकी शीतल छाया की चर्चा इस काल में भी

हुई किन्तु अब यह प्राकृतिक सौन्दर्य मन में अतीत की स्मृति को जागृत कर देते थे—

सघन कुंज छाया सुगन्ध शीतल सुरभि समीर ।

मनु है जात अजों वही उहि जमुना के तीर ॥

किन्तु रीतिकालीन कवियों में महाकवि बिहारी ने फिर भी कुछ स्थानों पर प्रकृति का इतना सुन्दर चित्रण किया है जो सराहनीय है—

रनित भृङ्ग घण्टावली, भरित दान मधुनीर ।

मन्द-मन्द आवत चल्थौ कुंजर कुंज समीर ॥

वर्षा का पवन किस प्रकार उद्दीप्तकारी होता है—

विकसित नवमल्ली कुसुम-विकसित परिमल पाइ ।

परसि पजारति विरह हिय बरस रहे की बाय ॥

महाकवि बिहारी ने प्रकृति को अनेकों रूपों में देखा । संयोग और वियोग के अनेकों चित्रों को कवि ने प्रकृति के रँगों से इस प्रकार भरा है कि उन चित्रों को मूर्तिमत्ता प्रदान कर दी गई है । पावस की घनी अधियारी में रात और दिन का भेद चकवा और चकवी के वियोग से ही जाना जाता है । इस प्रकार बिहारी के काव्य में वर्षा, शरद् आदि ऋतुओं का विशद चित्रण उद्दीपन रूप में ही हुआ है ।

बिहारी के समान ही सेनापति के काव्य में भी प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में ही हुआ है । संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण को भी उनकी रचना में स्थान दिया गया है । उन्होंने शरद् का चित्रण बड़ा ही मनोरम और चित्ताकर्षक किया है किन्तु उसका रूप उन्होंने उद्दीपनकारी ही रखा । केवल 'हरि पीय कौं' शब्दों को यदि नहीं डाला जाता तो प्रकृति अपने स्वच्छन्द रूप में ही दर्शित होती—

पाउस निकास तातै पायी अवकास भयी,

जौन्ह कौ प्रकास सोभा ससि रमनीय कौं ।

विमल अकास, होत वारिज विकास, सेना—

पति फूले कास हित हंसन के द्विय कौं ॥

छिति न गरद मानों रंगे हैं हरद सालि,
 सोहत जरद, को मिलावै हरि पौय कौं ।
 मत्त हैं दुरद मिटौ खंजन दग्द रितु,
 आई है सरद मुखदाई सब जीव कौं ॥

देव, मतिराम, पद्माकर आदि सम्पूर्ण कवियों के काव्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप ही दिखाई दिया । मतिराम की विरहिणी नायिका सुखदायी वस्तुओं को दुखदायी समझती है—

आई रितु पावस अकास आटौ दिसन में,
 सोहत सरूप जलधरन की भीर को ।
 मतिराम सुकवि कदम्बन की बास जुत,
 सरस बढ़ावै रस परस समीर को ॥
 भौन तैं निकरि वृषभानु की कुमारि देख्यो
 ता समै सहेट को निकुंज गिरथौ तीर को
 नागरि के नैननि तैं नीर को प्रवाह बढ्यौ
 निरखि प्रवाह बढ़ौ जमुना के नीर को ॥

घनानन्द के काव्य में प्रकृति :—

महाकवि घनानन्द के काव्य में भी अपने काल की प्रकृति चित्रण की पद्धति पूर्ण रूप से अपनाई गई किन्तु इतना अन्तर अवश्य रहा कि जहाँ इन रीतिबद्ध कवियों ने षट्श्रुत आदि की परम्परा को अनुकरण के रूप में अपनाया वहाँ घनानन्द ने किसी बद्ध परम्परा के आधार पर प्रकृति को भी नहीं अपनाया । रीतिकालीन कवियों में षट्श्रुत और बारह मासा लिखने की एक पद्धति थी जो विद्यापति, जायसी आदि कवियों की परम्परा से ली गई थी । घनानन्द ने श्रुत वर्णन किया किन्तु वह भाव तरङ्ग में आकर ही किया गया । अन्तः प्रकृति के उस पुजारी ने वाह्य-प्रकृति को भी भाव रंगों में रंगकर ही देखा । उनका प्रकृति चित्रण अनेक रूपों में हुआ । कहीं प्रकृति संयोग में आनन्द का वातावरण प्रस्तुत करती है, कहीं विरहाकुला वियोगिनी को प्रकृति सौत्वना और सहानुभूति प्रदान करती है तो कहीं प्रकृति उसके दुःख को

अत्यधिक उदीप्त करती है। कभी नायिका के अङ्ग प्रकृति के उपकरण बनकर श्रुत का चित्र उपस्थित कर देते हैं। कहीं प्रकृति के उपकरणों के द्वारा ही वियोगिनी अपनी आन्तरिक अवस्थाओं से प्रियतम का परिचय कराना चाहती है। कभी पतझर और बसन्त वियोगिनी के शरीर पर ही परिलक्षित होते हैं। कहीं विरहिणी की आन्तरिक भावनाओं को ही कवि ने प्रकृति के रंग में रंग कर दिखलाया है। वियोग की अग्नि के कारण वियोगिनी के अभिलाषा रूपी पत्ते गिर गये हैं। उच्छ्वासों की डालियों पर काँटे निकल आये हैं। इस प्रकार घनानन्द के विरही हृदय ने प्रकृति को भी अपने हृदय के अनुकूल ही अधिक देखा। उनके काव्य का मेरुदंड विरह ही है उस विरह में प्रकृति का हँसता रूप दिखलाना तो असंभव ही था। इनके विरही हृदय ने प्रकृति को अधिकतर अपनी वेदना को उद्दीप्त करने में ही प्रयुक्त किया।

संयोग पक्ष में प्रकृति को उल्लासमय और आनन्दकारी रूप में भी देखा। किन्तु उस प्रकार के प्रकृति चित्रण में भी प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। प्रकृति को अलंकारिक रूप में घनानन्द के काव्य में भी देखा गया और कवि परम्परा से जिन उपमानों को कवियों ने प्रकृति की गोद से उठाया था उसमें इस कवि ने इजाफा ही किया। कुछ स्थानों पर घनानन्द के चित्रण में प्रकृति शुद्ध रूप में भी झलक मारती है किन्तु कृष्ण का नाम आने से उस पर भी परम्पराभुक्त होने का दोष लग जाता है। सरस बसन्त, गिरिपूजन आदि के प्रकृति चित्रण अत्यन्त ही स्वाभाविक हैं किन्तु कृष्ण प्रेमी होने के कारण कवि ने राधा और कृष्ण के महत्व को उस प्रकृति चित्रण में भी प्रदर्शित किया है। इस प्रकार घनानन्द के काव्य में प्रकृति के निम्नलिखित रूपों के दर्शन होते हैं। १—उद्दीपन रूप में, २—आलंकारिक रूप में, ३—स्वतन्त्र रूप में, ४—सन्देश वाहक के रूप में।

१—प्रकृति का उद्दीप्तकारी रूप :—प्रकृति मानव के सुख और दुःख दोनों में उसकी सहचरी रहती है। इसका प्रभाव दोनों अवस्थाओं में मनुष्य पर पड़ता है। जो प्रकृति संयोग की अवस्था में आनन्द और माधुर्य की वर्षा करती है वही विरह में दुःख की झड़ी लगा देती है। इसीलिये काव्य में उसको संयोग में सुख देने वाला और वियोग में दुःख देने वाला प्रदर्शित किया जाता

है। प्रकृति का यही उद्दीपन रूप संयोग में इच्छाओं को उत्पन्न करता है किन्तु वियोग में उन इच्छाओं की पूर्ति न होने पर वही दुःखदायी हो जाता है। कालिदास ने प्रकृति के इसी रूप को अपने मेघदूत में प्रदर्शित किया है—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।

कण्ठा श्लेषप्रणविनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥

अर्थात् मेघ दर्शन से संयोगी भी नाना विकारों से युक्त होकर अपने सुखों में लिप्त हो जाते हैं। किन्तु जब वियांगी अपने प्रिय के कण्ठालिगन से दूर होकर मेघ को देखता है तो उसकी दशा न जाने क्या होती होगी ?

इसीलिये प्रकृति का दोनों रूपों में चित्रण कवि परम्परा से प्रचलित है। घनानन्द के काव्य में भी प्रकृति के दोनों रूपों का दर्शन मिलता है।

अ—संयोग में उद्दीप्तकारी रूप :—संयोग में आनन्द और हर्षातिरेक की धारा अबाध गति से बहती है। कृष्ण जिस समय गोपिकाओं के समीप है उस समय सम्पूर्ण वनराजी पुष्पों से पल्लवित है। अनुपम शोभा का साम्राज्य चारों ओर छाया हुआ है। प्रेममय ध्वनियों का वंशी के द्वारा सृजन हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कामदेव राजा ने वन की सेना को बसंत के समीप खड़ा करके सजाया हो।

प्रेम-अमी-भकरंद-भरे बहुरंग प्रसूननि की रुचि राजी ।

देखत आज बनै बनराजहि रूप अनूपम ओप बिराजी ।

राग-रञ्जी अनुराग जञ्जी सुनि हे घन आनन्द बांसुरी बाजी ।

मैन महीप बसंत समीप मनौ करि कानन सैन है साजी ॥

कृष्ण और राधिका प्रेम में विभोर हैं। कवि उनकी उस अवस्था में प्रकृति के उल्लास को देखता है—

सींचे रस रंग अंग फूलि फैलि फवि दवि

देखि देखि मालती लतानि उकसति है ।

आछे काछे मधुप कुमार कोटि ओटि कीजै

अलक छबीली मन छूटियौ कसति है ।

×

×

×

×

× × × ×

कौन धौं अमूठौ रस प्यावै जिय ज्वावै आवै,

ऐसी तेरी हँसनि बसंत कों हँसति है ।

राधा की हँसी बसंत की शोभा के ऊपर भी हँसती है जहाँ अनेक प्रकार के पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं ।

घनानन्द ने राधा और कृष्ण की लीलाओं को अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया । जहाँ उन्होंने युगल मूर्ति की लीलाओं का वर्णन किया है वहाँ प्रकृति की पृष्ठभूमि अवश्य दी गई । राधा और कृष्ण का बिहार-स्थल ब्रज की रमणीय भूमि थी जो अपनी प्राकृतिक शोभा से युक्त थी ? यमुना उसकी संगिनी थी । कृष्ण कुँजों और वनों में ही अधिक रहे । इसलिये उनके चरित्र-चित्रण में प्रकृति उनके साथ ही रही ।

राधारमन की बलि जाँव ।

सघन वृन्दावन मनोहर अति मधुर रस टाँव ॥

गौर स्याम ललाम संपति रमि रही द्रुम वेलि ।

महा अनुपम रूप-शोभा लहलहनि रस भेलि ॥

आपु बन घन आपु तनमय हँ रहत निसिभोर ।

यमुना की शोभा का वर्णन भी संयोग के सुखद क्षणों के साथ ही घनानन्द ने किया है—

तरनि तनूजा तोहि तकौं ।

चंचलता तजि भजि नदलालहि मन करि तेरे तीर थकौं ॥

कभी राधा और मोहन सुन्दर लताओं से युक्त हिंडोले पर झूलकर आनन्द का उपभोग करते हैं—

‘ललित लतानि हिंडोरें झूलत राधा-मोहन रीभनि भीजे’

कभी वन के मध्य में कृष्ण की वंशी बजकर आनन्द का प्रसार कर रही है । श्याम रंग के कृष्ण यमुना के तट पर सघन कुँजों के नीचे बिहार कर रहे हैं । वंशी के नाद से मत्त होकर पशु और पक्षी विभिन्न मार्गों पर घूम रहे हैं ।

ब्रज बाला मुरली के नाद के वशीभूत होकर अपने पतियों को छोड़कर अनेक अभिलाषाओं से युक्त होकर कृष्ण के दर्शनों को निकल पड़ी है—

वंशी बजै ब्रज मोहन की बन महियाँ ।
 स्याम सुन्दर जमुना तट विहरत सघन कदम की छहियाँ ।
 मादक नाद सवाद छुके घूमत खग मृग नग जहँ तहियाँ ।
 आनन्द घनहि निरखि सुरबनिता अभिलाषिन भीजीं
 भूलि पतिन गरबहियाँ ॥

यमुना भी शृङ्गार रस को उद्दीप्त करती है । उसका सौभाग्य है कि वह कृष्ण को अपने आलिंगन पाश में बद्ध करती है—

‘यमुना सरस सिंगार हिये में जागत तेरौ रूप निहार,
 तरल तरंगिन अतिरति रंगनि भेटत स्यामहिं सहस भुजानि पसार ।’

कृष्ण की मुरली की ध्वनि को सुनकर समस्त ब्रज में आनन्द ही आनन्द है । ऊपर से बसंत का भी आगमन हो गया है इस कारण कुँजों में भ्रमरों के झुंड के झुंड अपनी मधुर गुंजार ध्वनित कर रहे हैं । कभी कोकिल के मधुर स्वर की गूंज वनस्थली को मधुरिया से प्लावित कर देती है । दंपति अपने विहार में पूर्ण रूप से लीन हैं—

‘वृन्दावन मधि मधुरितु आई अति छवि पाइ सुहाई ।
 कुंज कुंज सुखपुंज मधुप गुंज कोकिला सुर की भाई ।
 विलसत है अपनी सचि संपति दंपति के विनोद अधिकाई ।’

मिलन में शरद की रात्रि अत्यन्त ही सुन्दर और मनोरम प्रतीत होती है । पूर्व दशा में पूर्ण चन्द्र ने आकर विहार करने का उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत कर दिया है । यमुना का तट अत्यन्त ही कुसमित और पृथ्वी पर अपनी समानता नहीं रखता । द्रुम और लतायें अपनी आभा को सघनता के रूप में फैला रही हैं । त्रिविध पवन प्रवाहित होकर रसमय वातावरण प्रस्तुत कर रहा है । ऐसे वातावरण में कृष्ण और राधा का विहार हो रहा है । प्रकृति इस विलास को अधिक रसमय कर रही है—

देखि सुहाई सरद की जामिनि रस भीनी ।
 पूरन ससि प्राची उदै विहरनि रुचि कीनी ।
 मोहन मदन गुपाल कों वृन्दावन मोहै ।
 जमुना तट कुसमित महा अरवनी मनि सोहै ।
 जोति जगमगै द्रुमलता अति सघन सुहाये ।
 त्रिविध पवन सुख में बहै कहियै सु कहाए ।

यदि दम्पति आनन्दातिरेक में हैं तो प्रकृति भी उनकी सहायक ही है । यह नहीं कि उनके विलास में कोई बाधा उत्पन्न कर रही हो । यदि राधा और कृष्ण हिलमिल करके विलास में उन्मत्त हैं तो प्रकृति भी उनके रंग में अत्यन्त सहायक है । उनके संयोग में प्रेम के उपभोग करने की रीतियों को प्रकृति भी देख रही है—

‘महानिशा जकि थकि रही ससि कदनि कदयो है’

प्रकृति का यह उद्दीप्तकारी रूप संयोग के सुखों में अत्यन्त ही मनोरमता के साथ कवि ने देखा है । वृन्दावन की मुख्य और रमणीय वनस्थली कुछ ऐसी सुन्दर है कि राधा को उन द्रुम वेलियों से पहिचान सी हो गई है । और हो भी क्यों न ? उनके विलास को तीव्र करने में इन रमणीय दृश्यों का ही तो अधिक हाथ है—

‘निहारयो वृन्दावन सुख खानि

द्रुम वेलिन सों भई भलैंई इन अखियन पहिचान ।’

रूप-शालिनी राधा को कुंजों में घूमना ही अधिक रुचिकर प्रतीत होता है । इसीलिये वह अधिकतर सघन कुंजों में ही घूमती कवि को मिलती हैं—

‘आवति चली कुंज गह्वर तं कुंवरि राधिका रूप मढ़ी’

गोपियों को बसन्त का आगमन आनन्द से प्लावित कर देता है । वे उसके स्वागत में आनन्द की अभिव्यक्ति करती हैं । राधा और कृष्ण के विहार के उपयुक्त साधन बसन्त ही जुटा सकेगा । जमुना तट के अनेकों कुंज जोकि उनकी कीड़ास्थली हैं पुष्पों से आच्छादित हो जायेंगे और पराग की सुगंधि व्याप्त हो जायेगी । भ्रमरों की पंक्ति मदमत्त होकर अपने सङ्गीत से वहाँ के वायु

मण्डल को गुंजित कर देगी । ऐसे बसन्त का स्वागत करना स्वाभाविक ही है—

‘बसन्त फूल्यौ री वृन्दावन में आई’

प्रीति-पावस में प्रकृति की शोभा का जो चित्रण किया है वह अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक है । वर्षा भी ब्रज में आकर के धन्य हुई । घटाओं के धिरने से जब अन्धकार छा जाता है उस समय गिरधारी प्रफुल्लित होकर वन में घूमते फिरते हैं । वृन्दावन में सदा आनन्द का ही साम्राज्य है । उधर वर्षा की झड़ी लग रही हैं, समीप ही यमुना का प्रवाह है तथा सघन वनों की शोभा भी अपनी छटा दिखा रही है । कोकिल की मधुर ध्वनि उस वनस्थली को गुंजित कर रही है । बादलों की प्रिया दामिनी अपनी चमक दिखा रही है । बादलों की घनघोर गर्जन ब्रज पर आनन्द की दुंदभी के समान है । कदम्ब के वृक्ष फूल रहे हैं और उन पर अलियों के पुंज मँदरा रहे हैं कृष्ण की मुरली की ध्वनि में मल्हार राग निकल रहा है । कुंजों में भूले पड़े हुये हैं । ब्रजवासियों के हृदय आनन्द के हिंडोलों पर झूल रहे हैं—

मधुर प्रेम-पावस के गीत । रस निधि राधा मोहन मीत ।

अमित लतागन फूलनि छाये । सोमित वन के सदन सुहाये ।

फूले सरस कदंबन पुंज । महा मनोहर मधुकर गुंज ।

भुरमुट झूला बगर बगर है । सावन के सुख डगर डगर है ।

वर्षा की थोड़ी २ बूंदें दम्पति को बहुत अच्छी लगती हैं । नव यौवन से युक्त दोनों इन बूंदों के आनन्द के कारण स्पर्श और आलिंगन के सुख में प्रवृत्त हो जाते हैं—

‘बूंदें थोरी थोरी थोरी बहुत नीकीं लागैं’

इस प्रकार के अनेकों चित्रण धनानन्द के काव्य में भरे पड़े हैं । प्रकृति की गोद में ही उनके राधा और कृष्ण की विलास लीला चलती है । किन्तु जो प्रकृति संयोग के क्षणों को अत्यधिक रसमय और मनोरम बनाती है । वही प्रकृति वियोग के थपेड़ों से अपना भी रूप बदल देती है संयोगिनी श्रुतियों के आगमन पर आनन्दातिरेक से उछलने लगती है किन्तु विरहिणी के लिये प्रकृति के यह सब रूप विषम ज्वाल के समूह के समान हो जाते हैं । महा-

कवि घनानन्द एक विरही कवि हैं। उनका काव्य उनके हृदय की सच्ची अनुभूति है। सुजान के प्रेम ने कवि की अन्तर्आत्मा को भर दिया जो वियोग रूपी दुर्दिन के आने पर उसके हृदय से प्रवाहित हो चला।

(ब) विरह में प्रकृति का उद्दीप्तकारी रूप—प्रकृति का रूप सर्वदा सुख और आनन्द प्रदायक होता है किन्तु विरह की दशा में प्रकृति भी विरहिणी को अनेक भयंकर और उग्र रूप दिखाती है। पलाश के वन विरहिणी को वियोग में अङ्गार के समान प्रतीत होते हैं। वर्षा की पुरवाई वायु से उसके शरीर में विरहाग्नि और भी तीव्र होती है। बादल जो कि संयोगावस्था में आनन्द की वर्षा करते थे अब उनको देखकर वियोगिनी बहक उठती है। उसका गला भर आता है। चपला की चमक भी उसकी दशा को अत्यन्त ही दयनीय कर देती है। वर्षा के पुष्पों की सुगंध भी वियोगिनी के दुःख को अधिक तीव्र करती है—

लहक लहक आवै ज्यों ज्यों पुरवाई पौन,
दहकि दहकि त्यों त्यों तन तौवरे तचैं ।
बहकि बहकि जात बदरा बिलोके जिय
गहकि गहकि गहवरनि हिये मचैं ।
चहकि चहकि डारै चपला चग्वन चाहै
कैसे घन-आनन्द सुजान बिन ज्यौ बचै ।
महकि महकि मारै पावस प्रसून वाय
वासनि उसास दैया कौ लाँ रहियै अंचै ।

कमलों को देख संयोगिनी आनन्द में निमग्न हो जाती थी किन्तु वियोगिनी के लिये मुखदाई वस्तुयें ही विष का काम कर रही हैं—

विकच नलिन लखें सकुच मलिन होति
ऐसी कल्लु आँखिन अनोखी उरभनि है ।
सौरभ समीर आये बहकि बहकि जाय
राग भरे हिय में विराग-मुरभनि है ॥

कोकिल की मधुर बोली भी वियोगिनी को वियोग में दुःखवर्द्धक प्रतीत

होती है । इसलिये उसको वियोगिनी मुनना नहीं चाहती । चातक और मोर भी अपनी आवाज़ से उसको उद्विग्न करते हैं । प्रिय की अनुपस्थिति में सब सुख के उपकरण दुःख जुटाने में लग गये हैं । बादल की गर्जन जो संयोग में आनन्द की दुंदभी के समान प्रतीत होती थी वह भी अब वियोगिनी के कानों को फोड़े डाल रही है—

कारी कूर कोकिला ! कहों कौ बैर कादति री,
 कूकि कूकि अब ही करेजौ किन कोरिलै ।
 पैड़े परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्योंही,
 चातक ! घातक त्यों ही तू हू कान फोरिलै ।
 आनन्द के घन प्रान-जीवन सुजान बिना
 जानिकैं अकेली सब घेरौ दल जोरिलै ।
 जौ लौं करैं आवन विनोद बरसावन ये
 तौलौं रे दरारे बजमारे घन घोरिलै ।

वियोग की अवस्था ही कुछ इस प्रकार की होती है कि उसमें केवल प्रियतम की स्मृति ही सन्तोषप्रद होती है ? किसी भी प्रकार की बात मन को रुचिकर नहीं होती ।

सावन का महीना आगया । संयोगिनी अपने-अपने प्रियतमों के साथ आनन्द में विभोर हो जाती हैं । जायसी के पद्मावत में भी नागमती सावन में संयोगिनियों को, अपने प्रियतमों के साथ भूलते देखकर अत्यन्त दुखी होती है—

सखिन्ह रच्यौ पिय संग हिंडोला
 हरियर चीर कुसुमी चोला

घनानन्द की वियोगिनी भी सावन मास को आया जान कर प्रियतम के वियोग में व्याकुल हो जाती है—

‘सावन आगम हेरि सखी मन भावन आवन चोप-विसेखी
 छाये कहूँ घनआनन्द जान सम्हारि की ठौरि लै भूलन लेखी ।
 बूढ़ैं लगैं सब अंग दगैं उलटी गति आपनि पापनि पेखी ।
 पौन सों लागति आगि मुनी ही पै पानी तें लागति आँखिन देखी ।

चन्द्रमा की चाँदनी नहीं निकल रही वरन् वियोगिनी के प्राण निकल रहे हैं। लोग चन्द्रमा को अमृत प्रदान करने वाला कहते हैं किन्तु वह वियोगिनी को तो विष दे रहा है। तभी तो उसके द्वारा जो चाँदनी प्रकाशित की जा रही है वह इतनी दुखदाई है। वियोग में रात्रि भी काटे नहीं कटती। संयोगावस्था में रात्रि इतनी छोटी लगती थी कि उस पर खीज आती थी किन्तु अब इतनी लम्बी है कि मानों उसका अन्त ही कभी न होगा—

‘कहा कहिये सजनी रजनी-गति, चन्द कढ़ै कि जियैं गहि काढ़ै ।
 अमीनिधि पै विष-सार खवै, हिम ज्योति जगाय कें अंगनि डाढ़ै ।
 सु या पति-संग न जानति है, धन आनन्द जान विछोह की गाढ़ै ।
 वियोग में बैरनि बाढ़त ऐसी, कछु न घटै, सु संजोगहू बाढ़ै ।’

वही कुंज जिनके नीचे जाकर शरीर प्रसन्न हो जाता था किन्तु अब उन कुंजों की छाया भी दुःख का प्रसार करती है। जिस यमुना का पानी कृष्ण ने कभी अपनी आनन्द की तरङ्गों से सींचा था और संयोगावस्था में उस जल का स्पर्श स्फुरण पैदा करता था अब वियोग में उसे देखकर ही दुःख में वृद्धि हो जाती है। जो पवन विलास के पश्चात् शरीर के श्रम बिन्दुओं को सुखाकर शीतलता प्रदान करता था वही पवन अब उस विरहिणी के शरीर को दग्ध करता है। जो बादल पानी के रूप में जीवन दान करते थे अब वह भी प्राणों को हरने आगये हैं—

वेई कुंज पुंज जिन तरैं तन बाढ़त हो,
 तिन छाँह आये अब गहन सो गहिगी
 मुरति मुजान चैन वीचनि सों सींची जिन,
 वही जमुना, पै हेली ! वह पानी बहिगौ ।
 वहै सुख श्रम स्वेद-समै को सहाय पौन,
 ताहि छिपे देह, दैया महादुख दहिगौ ।
 वेई धन आनन्द जू जीवन कों देते, तिनही
 कौ नाम नारिनि के मारिवे कौ रहिगौ ।

बसन्त के दिन इतने दुखदायी हैं कि विरहिणी को वह रात के समान ही प्रतीत होते हैं। लताओं के फूलों को देखकर तथा तमालों की डालियों में भूलों को देखकर वियोगिनी के शरीर पर क्षीणता छा रही है। मलयानिल के झोंकों का स्पर्श संयोग में प्रफुल्लित करता है किन्तु विरहिणी के लिये उसका स्पर्श दुःखद है :—

वासर बसंत के अनंत हूँ मैं अन्त लेत,
 ऐसे दिन पारै तु निहारै दिन रात है।
 लतनि की फूलनि तमालनि पै भूलनिकों
 हेरि हेरि नई नई भौंति पियराति है।
 प्यारे धन-आनन्द सुजान ? सुनौ बाल दसा,
 चंदनि पवन तैं पजरि सियरात है।

प्रिय का परदेश में रहना पावस में कितना दुःख देता है इसे विरहिणी का हृदय फूट फूट कर बताता है। संयोग में आनंद का उपभोग करने के पश्चात् वियोग में दुःख का भार कितना कठिन हो जाता है। प्रियतम के लिये संदेश भेजे किन्तु उस निष्ठुर ने कोई भी उत्तर नहीं दिया। विरहिणी उस पर अत्यन्त दुःखित है। वह अपनी अन्तरङ्ग सखी से इस निष्ठुरता को प्रकट करती है—

छाये परदेश जान प्यारे संग लै संदेश,
 मो मन अन्देश आली सौंसनि रुँधै गरै।
 मोरन की कूँ सुनि उठति हिये में हूँ
 चूँ नहीं तातिक करे जो कटिवो अरै।
 दामिनी की कौंध लखि चौंधनि मरत चख
 अङ्ग अङ्ग सीरीयौ समीर परसैं जरै।
 घेरि घूँटि मारै चहुँघातें धन आनंद यौ,
 बादर अडंबरनि डावाँडोल ज्यों करै।

विद्यापति में भी प्रिय के परदेश रहने पर वियोगिनी उसकी निष्ठुरता को इसी प्रकार अपनी सखी से व्यक्त करती है—

सखि मोर पिया

अजहु न आओल कुलिस हिया ।

संयोग में प्रकृति के जो उपकरण थे वह अब भी मौजूद हैं किन्तु उस समय उनमें जो सुख का सार निहित था वह अब वियोग में न जाने कहाँ चला गया । जमुना भी वही है, कुंजों का समूह भी वही है, उसी प्रकार ऋतुयें भी आती हैं, चन्द्रमा भी कोई नवीन नहीं, वही मन है और उस मन में वही अभिलाषायें भी संचित हैं । मुरली की वही ध्वनि आज तक व्याप्त है । किन्तु कृष्ण न जाने कहाँ छिपे हुये हैं और उनकी अनुपस्थिति के कारण ही वियोगिनी की यह दशा हो गई है । इस दशा को किससे कहे कुछ भी लाभ होते नहीं दिखलाई देता—

वही जमुना है वही वन वेई कुंज पुंज

वही ऋतु वही चन्द और सब बहियै ।

वेई हम वही वेई अभिलाष लाख,

वही धुनि मुरली की अजौं रमि रहियै ।

वियोग की दशा को उद्दीप्त करने में प्रकृति का जो व्यापक रूप महाकवि सूर ने देखा उस प्रकार को व्यापकता तो महाकवि घनानन्द में नहीं किन्तु फिर भी जितना प्रकृति चित्रण का रूप उनके काव्य में मिलता है वह रीतिकालीन कवियों की तुलना में अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके प्रकृति-चित्रण में भी उन्हीं बातों को स्थान दिया गया जो परम्परा-भुक्त थीं लेकिन फिर भी प्रकृति को इतना व्यापक रूप रीतिकाल के किसी भी कवि ने नहीं दिया जितना कि इस रीतिमुक्त कवि ने दिया ।

आलंकारिक रूप—प्रकृति को आलंकारिक रूप में देखना भी संस्कृत साहित्य के प्रारम्भ से ही चला आ रहा था । प्रकृति के उपकरणों के साथ नायक और नायिकाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की समानता अथवा कभी प्रकृति के उपकरणों को नायिका के अङ्गों के समुच्चय हेतु सिद्ध करने की अलङ्कारिक प्रणाली बहुत ही प्राचीन है और इसी के आधार पर उपमा और व्यतिरेक आदि अलङ्कारों को काव्य में प्रधानता दी गई । इस प्रकार के वर्णन संस्कृत

कवियों में भरे पड़े हैं। हिन्दी में विद्यापति, जायसी, कबीर, तुलसी, सूर अथवा रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को उपमान रूप में अनेकों स्थल पर प्रयुक्त किया- विद्यापति ने प्रकृति के अनेक उपकरणों का प्रयोग क्रमालङ्कार के रूप में अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रदर्शित किया है—

“हरिन इन्दु अरविन्दु करिनि हेम
पिक बूझल अनुमानी ।
नयन बदन परिमल गति तन रुचि
भञ्जो अति सुललित बानी ॥”

इसी प्रकार सूर ने भी अलंकारों के वर्णन में प्रकृति के उपकरणों को प्रयुक्त किया है। कृष्ण के रूप वर्णन में अनेक प्रकृति के उपकरणों को उपमान रूप में प्रदर्शित किया है—

‘ऊधो अब यह समुझ भई
नन्द नन्दन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई ।
कुंतल कुटिल भँवर भरि भँवरि मालति भुरै लई ॥
× × × ×
आनन इन्दुवरन सन्मुख तजि करखें तेन नई ।
निरमोही नहिं नेह कुमुदिनी अन्तहि हेम हई ॥’

महाकवि घनानन्द ने भी प्रकृति के इस रूप को कृष्ण और राधा के रूप चित्रण में प्रदर्शित किया है। एक नहीं अनेक स्थानों पर इस प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं। विरहिणी के शरीर में ही ग्रीष्म की ताप है और वहीं असीम समुद्र भी है तथा वहीं पर मेघ भी पानी भर कर घनघोर वर्षा कर रहे हैं—

‘बिरहा रवि सों घट व्योम तच्यो बिजुरी सी खिवें इकली छतियाँ ।
हिय सागर में दृग मेघ भरे उघरे बरसैं दिन औ रतियाँ । ?
/कृष्ण का मुख चन्द्रया के समान है तथा उनका शरीर घन के समान है

तभी तो वह घनश्याम हैं। उधर राधा के शरीर में वियोग के कारण पतझर और बसंत दोनों ही एक साथ हो रहे हैं—

‘है पतझर बसंत दुहू घनआनन्द एक ही बार हमारे’

वियोग के अश्रुओं के कारण वह वियोगिनी वर्षा ऋतु की बेलि के समान हो गई है। हृदय रूपी छप्पर पर उमंग की कोपलों के निकलने से उस बाला ने लज्जा को भी त्याग दिया—

‘असुआन तिहारे वियोग ही सों वरपा रितु बेलि सी बाल भई।

हित खोपनि चोपनि कौपनि भालरि लाज के ऊपर छाय रही ॥’

नेत्रों के सम्पूर्ण उपमानों को घनानन्द ने एक ही स्थान पर प्रदर्शित करके अपने कला कौशल का अच्छा परिचय दिया है—

‘मीन कंज खंजन कुरङ्ग मान भङ्ग करें

घाती वड़े काती लिये छाती पै रहें चढ़े ।’

इसी प्रकार व्यतिरेक अलङ्कार का प्रयोग करके कवि ने प्रकृति के उपकरणों को नायिका के अङ्ग प्रत्यंगों के सम्मुख हेय सिद्ध किया है—

‘वारनि भौर कुमार भजै, पुहुपावलि हास विलासहि पूजहि ।’

शरीर रूपी बन में विरह रूपी दावाग्नि प्रचंड रूप से व्याप्त हो गई है। जल के द्वारा किस प्रकार बुझे। साँस रूपी बाँस चटकने लगे हैं। आशा रूपी लता भी अब जल रही है। दुख रूपी धुँएँ की धुन्ध में प्रान रूपी खग घुट रहे हैं। अब तो आनन्द के घन अर्थात् कृष्ण के दर्शनों से ही इस विरह रूपी दावानल से छुटकारा होगा—

विरह दवाग्नि उठी है तन बन बीच,

जतन सलिल के सु कैसे सींचिये परै ।

अन्तर पुढाई फटे, चटकत साँस बाँस,

आस लांवी लता हू उदेग भर सों भरै ॥

दुख-धूम धूधरि में धिरे घुटें प्रान खग,

अब लौं बचे हैं जो मुजान तनकौ दरै ।

वरमि बरसि घन-आनन्द अरसि छाँड़ि,
सरस परस दै दहनि सब ही दरै ॥

अलङ्कारिक रूप में प्रकृति के चित्रण में कवि ने कई स्थान पर अपनी मौलिकता का प्रदर्शन किया है। प्रकृति विरहजनित वेदना को स्पष्ट करने तथा उसे मूर्त्तिमत्ता प्रदान करने में सहायक हुई है।

प्रकृति का स्वतन्त्र रूप :—प्रकृति का संश्लिष्ट-चित्रण रीतिकालीन कवियों में बहुत ही कम पाया जाता है। बिहारी देव, पद्माकर आदि सभी कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही देखा। केवल कुछ बिहारी के दोहे और कुछ कवित्तों में सेनापति ने स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण को स्थान दिया है। घनानन्द भी इस क्षेत्र में रीतिकालीन कवियों अथवा अपने अग्रज कृष्ण-भक्त कवियों के पीछे चलकर प्रकृति के उद्दीपन रूप को ही देखा। किन्तु फिर भी जिस वनस्थली के बीच उनके प्रिय इष्टदेव राधा और कृष्ण ने अपनी लीलाओं का प्रदर्शन किया था उसके स्वतन्त्र रूप को भी उन्होंने देखा। बसंत वर्णन में इस प्रकार का वर्णन कुछ मिल जाता है किन्तु वह भी अधिक नहीं—

वृन्दावन-आनन्द घन राजत यमुना कूल ।
सदा सुखद सुन्दर सरस, सब ऋतु रुचि अनुकूल ॥
रितु औरै मौरै नवल वृन्दावन तरु बेलि ।
सहज मुहायो देखिये आनन्द घन रसकेलि ॥

आगे चौपाइयों में भी इसी प्रकार का स्वतन्त्र चित्रण मिलता है किन्तु अधिक नहीं—

घमड़ि पराग लता तरु भोये । मधुरित सौरभ-सौंज समोए ॥
बन बसंत वरनत मन फूल्यौ । लता लता भूलनि संग भूल्यौ ।

प्रकृति के स्वतंत्र वर्णन की यह विशेषता घनानन्द के प्रकृति-चित्रण को रीतिकालीन कवियों के प्रकृति चित्रणसे उच्चकोटि का सिद्ध कर देती है। जिस प्रकार भाव की प्रधानता के द्वारा उन्होंने रीतिकाल के वाह्य-चित्रण को एक नवीन

दिशा की ओर मोड़ा उसी प्रकार प्रकृति के चित्रण में भी उन्होंने प्राचीन कवियों की तरह संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण की ओर भी ध्यान दिया। प्रकृति का जितना प्रेम इनकी कविताओं में है उतना उस काल के बहुत कम कवियों में है।

प्रकृति का सन्देश वाहक रूप :—जिस प्रकार कालिदास के मेघ ने पद्म का संदेश उसकी प्रियतमा को दिया था उसी प्रकार घनानन्द ने पवन और मेघ दोनों के द्वारा विरहिणी की दशा का संदेश उसके प्रिय तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है—

‘घन आनन्द जीवन दायक हो कछु मेरीयाँ पीर हियै परसौ ।

कबहू वा विसासी सुजान के आँगन माँ अँसुवान कोँ लै बरसौ ॥

उसी प्रकार वियोगिनी के द्वारा पवन से भी प्रार्थना की जाती है कि वह ही कृपा करके उसका सन्देश उसके प्रियतम तक पहुँचा दे। उस निष्ठुर ने यदि उसे भुला दिया है तो पवन इतनी कृपा ही कर दे कि उसके प्रियतम के पैरों की धूल ही उसके समीप उड़ा कर ले आवे। इस प्रकार घन-आनन्द ने प्रकृति को भी संयोग वियोग दोनों पक्ष में अनेक रंगों में देखा है। उनका प्रकृति-चित्रण इस बात का परिचायक है कि कवि को भावों के रङ्गों को प्रकृति की पृष्ठभूमि देकर रंगने में ही आनन्द का अनुभव होता था। प्रकृति चित्रण में घनानन्द ने कृष्ण भक्तों का अनुकरण करके गिरि पूजन, अनुभव चन्दिका आदि शीर्षकों के अन्तर्गत अपनी रुचि का अच्छा परिचय दिया है। रीति-बद्ध कवियों के समान उन्होंने परम्पराभुक्त प्रकृति-वर्णन को ही नहीं अपनाया। षट्श्रुत वर्णन तथा वारहमासा रीतिकालीन कवियों में प्रकृति चित्रण के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। घनानन्द ने जिस प्रकार काव्य में अन्तर्वृत्तियों के चित्रण को अपनाया और एक स्वतंत्र कवि के रूप में अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन किया उसी प्रकार प्रकृति वर्णन में उन्होंने रीतिबद्ध कवियों का अनुकरण नहीं किया। उनका प्रकृति चित्रण अपने काल के कवियों से अधिक व्यापक था।

प्रेमतत्व का निरूपण

प्रेम की व्यापकता :—मानव स्वभाव का यह विशेष गुण है कि वह अपने जीवन में किसी का होना चाहता है। अपने हृदय का प्रसार वह अपने तक ही सीमित न रखकर अन्य लोगों के हृदय के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि वह अन्य जीवधारियों के सुख-दुख में शामिल होता है। उनके साथ सहानुभूति और समवेदना का प्रदर्शन करता है। ऐसा करने में उसके हृदय को एक अपरमित आनन्द प्राप्त होता है। मनुष्य की इसी उदात्त और निस्वार्थ भावना के फलस्वरूप अन्य पुरुष भी उसकी ओर आकर्षित होकर अपने हृदय में उसके लिये एक स्थान सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार दोनों ओर से पारस्परिक आकर्षण का सूत्रपात प्रारम्भ हो जाता है। हृदय की इसी विशालता से प्रेम का प्रारम्भ होता है। यही पारस्परिक आकर्षण, स्नेह और शिष्टा के द्वारा और भी व्यापक होता जाता है और जिस हृदय में एक मानव के लिये ही स्थान था वही धीरे-धीरे मानव जाति के लिये हो जाता है। पारस्परिक आकर्षण में साहचर्य का बड़ा योग है और यदि यह कहा जाय तो और अधिक उचित होगा कि प्रारम्भ में मनुष्य एक दूसरे के प्रति साहचर्य के कारण ही आकर्षित होता है। परिवार के लोगों के प्रति उसका प्रेम इसी कारण है कि उन लोगों के बीच में वह जन्म से रहता है इसलिये वहाँ पर उसको यह आवश्यक नहीं कि उसके परिवार के लोगों में उसके प्रति सहानुभूति अथवा समवेदना की भावना है कि नहीं। पारिवारिक प्रेम मूलतः साहचर्य के कारण ही होता है। किन्तु वहाँ पर भी यदि कोई मनुष्य कुछ ऐसा कार्य करता है जिसमें वह परिवार के हित से अपने हित को अधिक महत्व देता है वहाँ पर पारिवारिक प्रेम का निर्मल जल स्वार्थ की मिट्टी से दूषित हो जाता है। इसलिये प्रेम के प्रसार में व्यक्तिगत स्वार्थ को महत्व देना एक व्यवधान बन जाता है।

परिवार के पश्चात् मानव हृदय का प्रसार संसार में है। परिवार इसकी पहली सीढ़ी है। उस सीढ़ी पर से ही यदि आदमी गिर पड़ा तो वह फिर समाज, जाति और देश से प्रेम नहीं कर सकता। यदि उसने पारिवारिक जीवन में पारस्परिक प्रेम के स्वरूप को देखा है और उसके द्वारा अपने हृदय को आनन्द से ओत-प्रोत किया है तो यह निश्चय है कि उसका हृदय भविष्य में देश और जाति तक ही सीमित न रहकर विश्व के प्रेम में अपने को रंजित कर देगा। हृदय का प्रसार ही प्रेम को व्यापकता प्रदान करता है। प्रेम में हृदय अपने लिये केवल संतोष और अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि ही करता है।

प्रेम का स्वरूप—किन्तु इसके अतिरिक्त प्रेम का एक और रूप भी है जो अनादिकाल से मानव जीवन को प्रभावित करता रहा है—[वह है स्त्री और पुरुष का प्रेम। इसका आकर्षण वह वासना है जो मानव के हृदय में सृष्टि के प्रथम चरण में ही निहित कर दी गई थी। स्त्री के रूप और सौन्दर्य को देखकर मनुष्य की अदम्य वासना हिल्लोलित होने लगती है। इसी प्रकार पुरुष के अङ्गों के प्रति भी स्त्री का आकर्षण स्वाभाविक है। दोनों ओर से एक दूसरे के प्रति आकर्षण होता है। पुरुष और स्त्री दोनों ही एक दूसरे से भिन्न रहना नहीं चाहते। नेत्रों के द्वारा ही उस आकर्षण का स्पष्टीकरण होने लगता है और इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवधानों को पारकर स्त्री-पुरुष का यह सम्मिलन अनादिकाल से चला आ रहा है। इस प्रकार के प्रेम को शारीरिक प्रेम अथवा स्थूल प्रेम की संज्ञा दी जाती है।] किन्तु यह शारीरिक प्रेम ही वास्तव में इतना घनीभूत हो जाता है कि इसकी स्थूलता का स्थान सूक्ष्मता ले लेती है। जो प्रेमी और प्रेमिका पारस्परिक चिर आलिङ्गन में बद्ध होने की प्रगाढ़ इच्छा रखते थे वही यदि अपनी इच्छा की पूर्ति होते नहीं देखते तो उनका हृदय खरड-खरड होकर बिखर जाता है। प्रेम की स्थूलता का स्थान अनुभूति ले लेती है। अब प्रेमी को शारीरिक सुख की लिप्सा नहीं रहती वरन् अब तो अपनी प्रियतमा के दर्शन की साध ही शेष रह जाती है। उसके हृदय में प्रियतमा की स्मृति एक संघर्ष मन्त्रा देती है। एक-एक स्मृति पर वह अनेक भाव-राशियों को न्योछावर करने लगता है। महाकवि घनानन्द का प्रेम इसी प्रकार का था। इस प्रेम में माँसलता और स्थूलता को कोई स्थान नहीं था क्योंकि

कवि ने संयोग में भी अपने हृदय को ही सुजान को दिया था। उसने सुजान से प्रत्युत्तर में कुछ भी नहीं चाहा। केवल उसके सौन्दर्य से ही अपनी तृप्ति करता रहा। किन्तु वह भी लोगों से न देखा गया और अन्त में उस दर्शन सुख से भी उसे वंचित होना पड़ा। घनानन्द ने अपने प्रेम को इस परवशता को ही अपने काव्य में चित्रित किया है। यही कारण है कि इनका प्रेम अनुभूति प्रधान है।

साहित्य में प्रेम के विभिन्न रूप—भारतीय साहित्य में प्रेम के विभिन्न रूप हैं। ऊपर लौकिक प्रेम के दो पक्षों पर प्रकाश डाला गया—जिसमें प्रथम शारीरिक आकर्षणजन्य प्रेम और द्वितीय अनुभूति प्रधान प्रेम। वास्तव में काव्यक्षेत्र में प्रेम का प्रादुर्भाव सौन्दर्य के कारण ही हुआ है और उसी का उदात्त रूप अनुभूति प्रधान हो गया है। इस प्रकार एकही वस्तु को भिन्न-भिन्न प्रकारों से देखा गया है। इसी लौकिक अनुभूति से आगे बढ़कर जब अनुभूति पारलौकिक सत्ता के प्रति हो जाती है तो उसी को ईश्वरोन्मुख प्रेम की संज्ञा दे दी जाती है। ईश्वरोन्मुख प्रेम में भी साकार के प्रति प्रेम होता है और निराकार के प्रति भी। साकार ईश्वर के प्रेम में राम और कृष्ण आदि के प्रेम के परम्परा से वर्णिन रूप को ही कवि अपनी कल्पना के द्वारा अनेक रूपों में प्रस्तुत करता है। किन्तु निराकार के प्रति जो उसका प्रेम होता है उस पर वह एक रहस्य का आवरण डाल देता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रेम की चार धारयें आदिकाल से चली आरही हैं—१—लौकिक प्रेम, २—पारलौकिक प्रेम लौकिक प्रेम को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—१—स्थूल प्रेम अथवा शारीरिक प्रेम और २—अनुभूति प्रधान प्रेम। पारलौकिक प्रेम के भी दो विभाजन होते हैं—१—सगुण के प्रति और २—निर्गुण के प्रति रहस्योन्मुख प्रेम।

हिन्दीकाव्य की प्रेमधारा इन चारों धाराओं में विभाजित होकर ही साहित्य के सागर को प्लावित करती रही है। किन्तु शारीरिक प्रेम अथवा स्थूल प्रेम प्रत्येक युग में अपनी सत्ता किसी न किसी प्रकार बनाये रहा। हिन्दी ही नहीं उसकी माँ अपभ्रंश तथा मातामही संस्कृत भी इस स्थूल प्रेम को ही लेकर चली। यह कहें तो अनुचित न होगा कि माँसल प्रेम का जो रूप हिन्दी में

आया वह उसकी मातामही और माँ की विरासत के फलस्वरूप ही मिला ।

कालिदास जैसे महाकवि ने स्थूल शृङ्गार की उत्कृष्टता को भी दिखाया । यक्ष का अनुभूति प्रधान प्रेम भी शारीरिक प्रेम के कारण ही हुआ था । एक कालिदास ही नहीं संस्कृत के अनेक कवियों ने प्रेमका आलम्बन नारीके अङ्गों को ही रखा । उनके काव्य में नारी के अङ्गों के सौन्दर्य के प्रति एक उत्कट ललक है । सौन्दर्य की देवी यक्षिणी की स्मृति उस यक्ष को इसलिये होती है कि वह उसके साहचर्य में एक लम्बे समय से रह रहा था अब उसकी वह प्रिया जो इतनी रूपवती है न जाने कैसे अपने दिन व्यतीत करती होगी । यक्ष उसके शरीर का चित्र मेघ के सन्मुख रखकर अपनी उस ललक को प्रकट करता है जो उसके हृदय में अपनी प्रिया के शारीरिक सौन्दर्य के प्रति है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्व बिम्बाधरोष्ठी
मध्येक्षामा चकित हरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
क्षोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येवधातुः ॥

हिन्दी के आदिकाल में विद्यापति जैसे कवि को प्रारम्भ में शारीरिक सौंदर्य के प्रति ही आकर्षण होता है किंतु वियोग की अवस्था में कवि की अनुभूति उस शारीरिक आकर्षण को ही आंतरिक प्रेम में परिवर्तित कर देती हैं । जो कवि एक दिन यौवन के प्रति इतना आकर्षित हुआ था कि उसके नेत्र आश्चर्य से विस्फारित हो गये थे और अनायास ही वह अपने आकर्षण को इस प्रकार व्यक्त करने लगा था—

‘कि आरे ! नव जौवन अभिरामा ।

जत देखल तत कहिअ न पारेब छत्रो अनुपम एक ठामा ॥’

वही एक दिन भावुकता से ओत-प्रोत होकर प्रेम के आन्तरिक प्रभाव को देखने लगता है—

सखि मोर पिया ।

अजहु न आओल कुलिस हिया ॥

नखर खोलाओल दिवस लिखि लिखि ।

नयन अँधाओल पिया पथ हेरि ॥

भक्तिकाल में सूर के कृष्ण और राधा का प्रेम भी 'नैन नैन मिल परी टगोरी' के उपरान्त ही प्रारम्भ हुआ । सम्पूर्ण 'भ्रमरगीत सार' अनुभूति प्रधान प्रेम से ही आतप्रोत है । गोपियों के प्रेम में जो अनन्यता है वहीं उच्च प्रेम की परिचायक है । गोपियों को किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं वह तो चातक के समान अपने प्रिय कृष्ण के दर्शन की ही लालसा रखती हैं । उनके जीवन का उद्देश्य प्रिय के दर्शन मात्र के लिये ही है । ऊधो के निर्गुण ब्रह्म की महत्ता इस अनन्य प्रेम के सन्मुख विलीन हो जाती है । गोपियाँ अपनी अनन्यता को किस स्वाभाविकता से व्यक्त करती हैं—

‘ऊधो मन नाँहीं दस बीस ।

एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधै ईस ॥’

भक्त कवियों ने किसी साँसारिक आलम्बन को अपने प्रेम का लक्ष्य नहीं बनाया । उनके प्रेमी राम और कृष्ण थे । इसलिये इन भक्तों ने अपने इष्ट-देव के सौन्दर्य का जो वर्णन किया वह भी लौकिक प्रेम से ऊपर था । अपने इष्टदेव के रूप का ध्यान उनको अपरमित आनन्द देता था । ईश्वर के प्रेम ने उनकी सम्पूर्ण वासनाओं को कुण्ठित कर दिया । राम और कृष्ण उनको इस संसार के सम्पूर्ण कुचक्रों एवं यातनाओं से मुक्त करेंगे इसलिये वे उनका स्मरण करते थे ।

सूफ़ी कवियों में प्रेम का आधार लौकिक था किन्तु बीच बीच में वे उस प्रेम को अनंत सत्ता के प्रति भी दिखाते चलते थे । जायसी के 'पदमावत' में कवि ने राजा रत्नसेन का शारीरिक सौन्दर्य के प्रति ही आकर्षण दिखाया है किन्तु फिर विरह की व्याकुलता में पदमावत के जो उद्गार हैं उनमें अनुभूति की प्रधानता स्पष्ट दिखाई दे रही है । नागमती के विरह वर्णन में शारीरिक ललक भी स्पष्ट है । सूफ़ियों में शारीरिक मिलन को अधिक महत्व दिया गया । इसका कारण हम पीछे कह चुके हैं कि सूफ़ियों के प्रेम में मादन भाव की प्रधानता थी इस कारण उनके प्रेम में कामोद्दीपन को प्रमुख स्थान मिला ।

किंतु भारतीय प्रेम में माधुर्य भाव था जो एक कोमल रूप को लेकर चला था । जायसी की नागमती को आन्तरिक दशा इसलिये बिगड़ी हुई है कि उसे प्रियतम के द्वारा शारीरिक सुख नहीं मिल रहा । वह अपने उद्गारों को इस प्रकार स्पष्ट करती है—

‘पदमावति सों कहेउ विहंगम । कंत लुभाय रही करि संगम ।’

नागमती को इसी बात का दुःख है कि पदमावत उसके प्रिय के साथ समागम करे और वह इस प्रकार वेचैनी में अपना जीवन व्यतीत करे । सूफियों का प्रेम अनुभूति प्रधान प्रेम के अन्तर्गत है । उन्होंने उसको समासोक्ति के द्वारा ईश्वरोन्मुखी बनाकर उसकी शारीरिकता को संवत करने का भी प्रयत्न किया है ।

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल अधिकतर नारी के शारीरिक सौन्दर्य की ओर ही आकर्षित था इसलिए उसकाल के काव्य में जिस प्रेम का रूप दिखाई देता है वह उदात्त प्रेम नहीं वरन् स्थूल प्रेम ही है । बिहारी, मतिराम देव, पदमाकर आदि सभी कवि, स्थूल प्रेम को ही लेकर चले जो केवल वासनाओं की तृप्ति तक ही सीमित था । इस काल के प्रेम में चातक की सी अनन्यता नहीं । प्रेम को उद्दीप्त करने के लिये ठोढ़ी का गड्डा ही पर्याप्त था उसी को देखकर नायक प्रेयसी के लावण्य में डूब जाता था । पद्माकर की नायिका का ‘नैन नचाय’ के यह कहना ही प्रेम को उद्दीप्त कर सकता था—

‘लला फेरि आइयो खेलन होरी’

घनानन्द का शुद्ध प्रेम—

महाकवि घनानन्द भी रीतिकाल में ही हुये थे और उनको भी सुजान के सौंदर्य के प्रति ही प्रथम आकर्षण हुआ था । लेकिन उन्होंने अपने उस प्रेम को संयत रखा क्योंकि उनको प्रतीत था कि दरवार की नर्तकी से मीरमुन्शी का प्रेम होना संभव नहीं । यही कारण था कि वह अपने प्रेम को अपने हृदय में रखकर उसकी पीर को अन्दर ही अन्दर अनुभव करने लगे । किंतु प्रेम क्या छिपा है ? उनको उसी प्रेम के कारण अपनी नौकरी से हटाने पड़े और

जिसको हृदय दिया था उस ने भी साथ नहीं दिया। उनकी हृत्तंत्री का एक एक तार भङ्कृत हो गया और उनके हृदय के प्रेम विषयक सम्पूर्ण भाव उनकी कविता के रूप में निस्सरित होने लगे।

घनानन्द का प्रेम प्रथम लौकिक प्रेम था किन्तु बाद में उन्होंने अपनी प्रियसी सुजान के प्रति प्रेम को कृष्ण प्रेम में परिणित कर दिया। इस प्रकार प्रेम के दो पहलू हैं—वह संसार का भी है और साथ ही ईश्वर के प्रति भी है। किन्तु घनानन्द के प्रेम का मूल स्वर उनका व्यक्तिगत प्रेम ही है। कुछ विद्वानों ने उनके प्रेम को रहस्योन्मुख प्रेम की संज्ञा देने का प्रयत्न किया है। लेकिन यह किसी पुष्ट आधार पर न होने के कारण मान्य नहीं। घनानन्द तो सुजान का नाम ही पुकार पुकार कर अपने उद्गारों को प्रकट करते हैं। उनके प्रेम में किसी प्रकार की वक्रता नहीं। उनका प्रेम तो राज मार्ग के समान प्रशस्त एवं विस्तीर्ण है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है—

‘अति सूधो सनेह कौ मारग है जहाँ नैंक सयानप बाँक नहीं’

महाकवि घनानन्द ने अपने आन्तरिक भावों को ही अपने प्रेम में अधिक महत्व दिया अथवा यह कहना चाहिये कि उनके भग्न हृदय से अनायास ही इस प्रकार की उक्तियाँ निकल पड़ीं जो उनके अनन्य प्रेम की परिचायक हैं। घनानन्द तो अपने प्रिय को चकोर और चातक के समान प्रेम करते थे। उनको संसार में केवल प्रिय के दर्शनों की ही अभिलाषा थी। उनको केवल एक ही विश्वास था कि उनके प्रियतम से मिलन अवश्य होगा। इसी आशा से उनके प्राण शरीर में रह रहे हैं अन्यथा न जाने कब के उड़ गये होते—

‘एक बिसास की टेक गहे लगि आस रहे बसि प्रान बटोही’

कृष्ण को जब से देखा उसी समय से ‘चाह की अग्नि प्रज्ज्वलित हो गई—

‘जबतें निहारे घन आनन्द सुजान प्यारे

तबतें अनोखी आगि लागि रही चाह की।’

प्रेम की अवस्था भी कितनी दयनीय होती है। प्रेमी को जड़ और चेतन का भी भेद नहीं रहता। घनानन्द की विरहिणी आत्मा भी उसी अवस्था

में पुकार उठती है । कालिदास के यत्न के समान उसे भी यह होश नहीं रहता कि मेघ जड़ है यह उसकी इच्छा को कैसे पूर्ण करेगा । विरहिणी आत्मा मेघ के द्वारा अपना संदेश भेजती है—

(धन आनन्द जीवन दायक हौ,
कछु मेरी हू पीर हिये परसौ ।
कबहू या बिसासी सुजान के आँगन,
मो अँसुआन को लै बरसौ ॥)

रीतिकालीन कवियों का प्रेम—

रीतिकालीन कवियों के प्रेम वर्णन में स्थूलता है । उनकी प्रवृत्ति अधिकतर नायिका के अङ्ग प्रत्यङ्ग के निरूपण में ही अधिक रमी । प्रेम की गहराइयों से उनको कोई मतलब नहीं । वास्तव में उनमें कोई भी ऐसा कवि नहीं था जिसने प्रेम की उदात्त भावना को अपने हृदय में संचित किया हो । उनका कार्य तो काम वासना को उद्दीप्त करने वाले चमत्कार का प्रदर्शन मात्र था । यही कारण है कि उनके प्रेम में अन्तर्वृत्तियों के निरूपण को उतना स्थान नहीं मिला जितना कि कल्पना की असंभव उड़ानों को दिया गया । कहीं नायिका के नेत्रों को 'काननचारी' मृग कहकर उनसे 'नागर नरन' का शिकार कराया गया तो कहीं पर नायक और नायिका के हृदय को नट बनाकर दृष्टिरूपी रस्सी पर इधर उधर दौड़ाया गया । कभी नायक की पतङ्ग की परछाहीं को छूने में नायिका आँगन में दौड़ती फिरती है । नायक भी अपने प्रेम का प्रदर्शन कभी 'लरिका' को गोद में लेने के बहाने से अपनी प्रेयसी के वक्षस्थल को छूकर ही कर देता है । नायिका के प्रेम का माध्यम हृदय नहीं बरन् एक खेत है । उसके कट जाने पर उस नायिका के प्रेम में बाधा पड़ जाती है । उसकी अन्तरंगिनी सखी उसको यह कहकर समझाती है कि यदि सन सूख गया और बन भी उजड़ गया तो वह इस प्रकार दुखी क्यों होती है । अभी हरी-हरी अरहर तो खड़ी है । क्या प्रेम है ? केवल शारीरिक मिलन का सुख ही जिसका चरम लक्ष्य है । देव, मतिराम, पद्माकर आदि सम्पूर्ण कवियों ने इसी शारीरिक आकर्षण को ही अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया ।

मतिराम के प्रेमी भी अपनी नायिका के अङ्गों तक ही अपने प्रेम को सीमित करते हैं । कभी उस सुख के लिये वह 'लला' दिन में ही 'घात' लगाते हैं । कभी भीतर लेटकर अपनी प्रेयसी से पानी मँगाने का उपक्रम करते हैं । इस प्रकार रीतिकालीन कवियों के काव्य में प्रेम नामक उदात्त भाव नायिका के अङ्गों के प्रति आकर्षण मात्र बनकर रह गया था ।

घनानन्द का अनन्य प्रेम—घनानन्द का प्रेम उनके लिये एक साधना थी । वह उस प्रेम की देवी के उपासक थे जिसकी स्मृति उनके अङ्ग-अङ्ग में समा गई थी । उनके लिये प्रेम कोई उथला तालाब या भील नहीं वह तो अथाह सागर था । उस सागर को छोड़कर उनको कुछ नहीं सुहाता—

‘एकै आस एकै विश्वास प्राण गहै वास,
और पहिचान इन्हें रही काहू सों न है ।’

यदि प्रिय जो अनेक गुणों की निधि है वहही इन प्राणों की उपेक्षा करेगा तो इन प्राणों की क्या दशा होगी—

नेह-निधि-प्यारे गुन-भारे हूँ न रुखे हू जे,
ऐसौ तुम करौ तौ बिचारन कै कौन है ।

घनानन्द की प्रेमिका को तो अब जीवन भर प्रिय की स्मृति करना ही रह गया है । वह प्रेम के सागर में उतर पड़ी है । प्रियतम के मन में आये वह करे उसे इसकी तनिक भी परवाह नहीं । अब तो केवल प्रिय की बातों में ही जीवन को व्यतीत करना चाहती है । प्रेमिका अपनी दशा की तनिक भी चिन्ता नहीं करती उसे तो प्रेम में यदि अपना जीवन ही बलिदान करना पड़े तब भी वह अपने प्रेम की सफलता ही मानेगी । घनानन्द की प्रेयसी अपने प्रियतम की उपेक्षा को सहकर भी उसके प्रति अपने अनन्य प्रेम का परिचय देती है—

‘तुम नीके रहौ तुम्हें चाड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजिये जू ।’

घनानन्द के प्रेम में चातक के प्रेम की अनन्यता परिलक्षित होती है । प्रेयसी ने अपने प्रेम को इतना व्यापक रूप दिया है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ! उसके प्राणों में केवल प्रिय की स्मृति ही को स्थान है । उसके हृदय में अन्य किसी भी बात के लिये स्थान नहीं—

‘घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एकते दूसरौ आँक नहीं ।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला मन लेत हो देत छुटाँक नहीं ॥’

यदि प्रियतम का प्रेम उसे नहीं मिलेगा तब भी वह प्रेयसी अपने प्रेम में दृढ़ ही रहेगी । यदि उसकी दशा बिगड़ती जायेगी तब भी उसे कोई चिन्ता नहीं । यदि अन्य कोई पूछेगा तो उसका उत्तर भी वह अपने प्रिय से पूछकर ही देगी—

“यह देखि अकारन मेरी दसा कोऊ बूझै तौ ऊतर कौन कहौ ।
जिय नैंकु विचारिकें देहु बताय हहा पिय! दूरितें पाँय गहाँ ॥”

तुलसी ने भी प्रेम के अनन्य रूप को ही अधिक महत्व दिया । उन्होंने अनेक स्थानों पर प्रेम की अनन्यता को प्रदर्शित किया है—

एक भरोसौ एक बल, एक आस विस्वास ।
स्वोंति बूंद घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

प्रेम की इसी अनन्यता के कारण रसखान भी अपना नाम अमर कर गये । जिस अनन्यता के साथ इस मुसलमान गायक ने अपने प्रिय को प्यार किया सम्भवतः उसी का प्रभाव घनानन्द पर भी पड़ा । रसखान ने प्रेम की अनन्यता के महत्व का बड़े जोरदार शब्दों में प्रतिपादन किया—

अति सूछुम कोमल अतिहि अति पतरो अतिदूर ।
प्रेम कठिन सबतें सदा, नित इक रस भरपूर ॥
इक अंगी विनु कारनहिं, इकरस सदा समान ?
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम महान ॥
डरै सदा, चाहे न कछु, सहै सबै जो होय ।
रहै एकरस चाहिकै, प्रेम बखानौ सोय ॥
प्रेम प्रेम सब कोई कहै, कठिन प्रेम की फाँस ।
प्राण तरफि निकरै नहीं, केवल चलत उसास ॥

घनानन्द का प्रेम मूलतः इसी प्रकार का था । उनके काव्य में प्रेयसी जीवन भर तड़पने को तैयार है किन्तु फिर भी उसे प्रियतम की ओर से कोई

शिकायत नहीं है। उनके प्रेम में स्वार्थ को तनिक भी स्थान नहीं। न जीवन और रूप का ही आकर्षण है और न वह प्रिय से धन की ही कामना करती है। वह तो वासनाओं और इच्छाओं से रहित प्रेम के निष्काम रूप को ही अधिक महत्व देती है। प्रेयसी की अनन्यता एक पंक्ति से ही स्पष्ट है—

‘मोहि तुम एक तुम्हें मोसम अनेक आहिं

कहा कलु चंदहि चकोरनि की कमी हे ।’

घनानन्द के काव्य में प्रेम से सिंचित अनेक उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। उनके हृदय में प्रेम का जो उच्च स्थान था उसका परिचय उन उक्तियों की मार्मिकता से स्पष्ट हो जाता है। विरहिणी प्रेम में इतनी मग्न है कि उसे रात दिन अपने प्रियतम का ही ध्यान रहता है। सुबह से शाम और शाम से सुबह प्रियतम की प्रतीक्षा में ही बीतते हैं। यदि प्रियतम कहीं उसे अपनी भूलक भी दिखा दें तब भी वह प्रेमाधिक्य के कारण उनको देखने में असफल रहती है। उस समय प्रेम की सधनता के कारण उसके नेत्रों में प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं और उसकी दृष्टि के सन्मुख आवरण बनकर प्रियतम के दर्शन में बाधा उपस्थित कर देते हैं। प्रेयसी को क्षणिक दर्शन का लाभ भी नहीं मिल पाता—

‘भोरतें साँझ लों कानन ओर निहारति बाबरी नेंकु न हारति ।

साँझ तें भोरलों तारनि ताकियो तारनि सों इक्तार न टारति ।

जौ कहूँ भावतौ दीटि परै घनआनन्द आँसुन औसर गारति ।

मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति ॥’

प्रेयसी के प्राणों में तो केवल प्रिय का रूप बस गया है। किन्तु उसके प्रियतम ने उसके इस प्रेम को ठुकरा दिया। अब वियोग की गर्म हवाओं के झोंकों से इन प्राणों की अवस्था अत्यन्त ही बिगड़ गई है। लेकिन फिर भी प्राण पतङ्ग की भाँति उड़ते ही रहते हैं।

प्रियतम की निष्ठुरता को प्रेम की एक-निष्ठता अवश्य जीतेगी। प्रेयसी की व्याकुल पुकार विश्वास के साथ निकलती है—

‘ऐसें घनआनन्द गही है टेक मन मांहि
एरे निरदई तीइ दया उपजाय हौं ।’

प्रेयसी विरह की वेदनाओं में तपकर अपने प्रेम में इतनी दृढ़ है कि उसको संसार में किसी का प्रेम अपने प्रेम के समान नहीं जचता । पतंगा और मीन भी प्रेम में कवि प्रसिद्धि के द्वारा आदर्श रूप में उपस्थित किये जाते रहे हैं । किंतु घनानन्द की प्रेयसी उन दोनों के प्रेम को अपने प्रेम से हेय समझती है । उसका कारण भी स्पष्ट है कि पतङ्गा अपने प्रियतम दीपक को देखते ही उस पर गिरकर अपने प्राणों को न्योछावर कर देता है और मछली अपने प्रियतम जल से वियुक्त होते ही अपने प्राणों को छोड़ देती है । किन्तु घनानन्द की विरहिणी अपने प्रियतम के वियोग को भी उस प्रेम की कसौटी समझती है । इसलिये प्रियतम के दर्शनों की साध लेकर वह अपने शरीर को गलाते हुए अपने प्राणों को सुरक्षित ही रखती है । अपने प्रेम पर इसीलिये उसे अभिमान है—

मरिबो बिसराम गनै वह तौ
यह बापुरौ मीत-तज्यौ तरसै ।
वह रूप-छटा न सहारि सकै
यह तेज तवै जितवै वरसै ।
घन-आनन्द कौन अनोखी दसा
मति आवरी वावरी हूँ थरसै ।
बिछुरे मिलै मीन पतङ्ग दसा
कहा मो जिय की गति कौं परसै ॥

सूफियों के प्रेम में पीर अथवा वेदना की कसक सदा रहती है । घनानन्द के काव्य में भी इस कसक को अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है । प्रिय की स्मृति आते ही वह नायिका उद्विग्न हो जाती है । उसे अतीत की स्मृतियाँ बार-बार कचोटती हैं । प्रिय से वह उन पिछली बातों का स्मरण करके बड़े भारिल हृदय से कहती है—

मन माहिं जो तोरन ही, तौ कहौ

विसवासी सनेह क्यों जोरत हे ।

हृदय की कसक उस प्रेमिका को बेचैन कर देती है । वह अपनी गलती को अन्य लोगों के लिये सबक बनाती है । उसे इस बात की चिन्ता नहीं कि उसके प्राण इस प्रकार प्रेम में घुट घुटकर निकल जायेंगे । उसकी वेदना मुखरित होकर यही पुकारती है कि भविष्य में अन्य लोगों को कभी भी किसी 'अमोही' से प्रेम नहीं करना चाहिये—

‘प्राण मरैंगे भरैंगे बिथा पै

अमोही सौं काहू कौ मोह न लागौ’

जीवन से उदास होने पर भी प्रेयसी अपने प्रियतम के दर्शनों की इच्छा को अन्त तक नहीं छोड़ती—

‘जीवतैं भई उदास तऊ है मिलन आस

जीवहि जिवाऊँ नाम तेरौ जति जपि रे ।’

घनानन्द के प्रेम का अग्राध समुद्र अनेक भावनाओं की लहरों से तरंगित है । प्रेम पंथ का यह पथिक अनेकों बाधाओं को चीरता हुआ भी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता । उनके प्रेम के उदात्त रूप को देखकर ही किसी ने उनके विषय में ठीक ही कहा था—

प्रेम सदा अति ऊँचौ लहै सुकहै इहि भाँति की बात छकी ।

सुनिकें सब के मन लालच दौरि पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी ।

जग की कविताई के धोखे रहैं ह्यौं प्रवीननि की मति जाति जकी ।

समुझै कविता घन-आनन्द की दिय आँखिन नेह की पीर तकी ॥

प्रेम की अनेकों अवस्थाओं तथा मार्मिकता को घनानन्द ने अच्छी तरह समझा । उनका काव्य उनके प्रेम की उस उच्च चोटी पर ले जाता है जहाँ से संसार के अन्य लोगों की प्रेम भावना अत्यन्त ही उथली और अस्थिर प्रतीत होती है । यही मूल कारण है जिससे घनानन्द को हम उन रीतिबद्ध कवियों की भीड़ से अलग एक स्वच्छन्द प्रेमी कवि के रूप में ही देखते हैं ।

घनानन्द की भक्ति एवं सम्प्रदाय विभिन्न मत—

महाकवि घनानन्द के मत एवं सम्प्रदाय के विषय में अभी तक अधिक खोज नहीं हुई। प्रारम्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके सम्प्रदाय के विषय में अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा था—'इस पर इनको विराग उत्पन्न होगया और ये वृन्दावन जाकर निंबार्क-सम्प्रदाय के वैष्णव होगये और वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे।' उन्होंने अपने इस कथन के आधार में घनानन्द का एक कवित्त भी उद्धृत किया है जिसमें उनका वृन्दावन भूमि के प्रति जो प्रेम था उसकी भाँकी मिलती है—

गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो,
सदा सुखद सुहायो वृन्दावन गाढ़े गहिरे ।
अद्भुत अभूत महि मंडन परे ते परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहिरे ॥
आनन्द को घन छायो रहत निरन्तर ही
सरस सुदेय सो, पपीहा पन बहिरे ।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै परि रहि रे ॥

किन्तु अपने उपर्युक्त कथन के पश्चात् शुक्ल जी ने वहीं पर आगे के पृष्ठ में इस प्रकार कहा है—

‘इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर सुजान को सम्बोधन किया है जो शृङ्गार में नायक के लिये और भक्ति भाव में कृष्ण भगवान के लिये प्रयुक्त मानना चाहिये। कहते हैं कि इन्हें अपनी पूर्व प्रेयसी सुजान का नाम इतना

प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने इसे नहीं छोड़ा । यद्यपि अपने पिछले जीवन में घनानन्द विरक्त भक्त के रूप में वृन्दावन जा रहे पर इनकी अधिकाँश कविता भक्तिकाव्य की कोटि में नहीं आयेगी शृङ्गार की ही कही जायेगी । लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुये ।' प्रथम शुक्ल जी ने इनको निम्बार्क मतानुयायी कहा और साथ ही यह भी कहा कि इनको विराग होगया किन्तु बाद में कहते हैं कि उनकी कविता भक्त कवियों की कोटि में नहीं आयेगी । साथ ही यह भी कहते हैं कि सुजान का लौकिक नाम ही उनके इष्टदेव के रूप में व्यवहृत होने लगा । अब प्रश्न उठता है कि जो आदमी अपने लौकिक प्रेम के आधार पर ही अपने इष्टदेव की पूजा में रत हुआ हो तो उनको विरक्त भक्त कैसे माना जा सकता है ? भक्त कों लौकिक सुख और दुःख की क्या चिन्ता ?

वियोगी हरि के एक छुप्पय में इनको वैष्णवभक्त कहा गया है किंतु उन्होंने यह नहीं कहा कि यह निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव थे अथवा किसी और वैष्णव सम्प्रदाय के :—

बादशाह ने कोपि राज्य ते याहि निकारयो ।
वृन्दावन में आय वेष वैष्णव को धार्यौ ।
प्यारे मीत सुजान सों नेह लगायौ ।
लगन वान तें विध्यो विरह-रस मंत्र जगायो ।

लाला भगवानदीन जी ने भी इनको निम्बार्क सम्प्रदाय का नहीं बताया । इन्होंने इनकी विरक्ति का कारण इनका रासलीला के प्रति प्रेम था—“इस रास की भावना का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये श्रीकृष्ण की लीला में न रहने के लिये दरबार तथा गृहस्थी से नाता तोड़ वृन्दावन चले आये और वहाँ किसी व्यास वंश के साधु से दीक्षा ले ये किसी उपासना में मग्न और दृढ़ हो गये ।’

दीन जी के कथनानुसार इस बात का पता नहीं लगता कि घनानंद किस प्रकार के वैष्णव थे । उन्होंने स्पष्ट न होने के कारण ठीक लिखा है—“कि वे

किसी उपासना में दृढ़ और मग्न हो गये ।' यह उपासना क्या थी इसका पता उनको ठीक नहीं लगा ।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने घनानन्द की भक्ति-भावना को एक मोड़ देकर अपना नया दृष्टिकोण उपस्थित करने का प्रयत्न किया—“घनानन्द को यदि हम वैष्णव भावनाओं से प्रभावित हुआ भी पाते हैं किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे मूलतः रहस्योन्मुखी प्रेम-काव्य के कवि हैं और सूफी तथा निगुण-प्रेमी कवियों के अन्तर्गत मीरा की भाँति आते हैं । मीरा जिस प्रकार वाह्य रूप से परम वैष्णव सगुण भावना की दिखलाई देती है किन्तु उसका प्रेम रहस्योन्मुखी अनन्त सत्ता—जिसे वह प्रिय गिरधर गोपाल, प्रभु आदि आदि शब्दों से सम्बन्धित करती है—की विरह वेदना की विकलता की साक्षी है, उसी भाँति घनानन्द चाहे कृष्ण के तथा राधा के सगुण रूप का, उनकी कृपा का उनकी लीलाओं का सजीव और प्राणों को प्रसन्न कर देने वाला गुण गान करते हैं, परन्तु प्रधानता उनमें उस विरह भावना की मर्मस्पर्शी विकलता की है जो जायसी, इमामशाह, कबीर, मीरा, दादू, नानक, बाबा लालदास, सरमद आदि प्रेममार्गी सन्तों में पाई जाती है । इसलिये घनानन्द का काव्य रसखान, सूर तुलसी, वैष्णवधारा के कवियों से उतना मेल नहीं खाता जितना प्रेम रहस्योन्मुखी सन्तों की विरह वाणियों से ।”

किन्तु आगे चलकर श्री शंभुप्रसाद बहुगुना घनानन्द को फिर वैष्णव कवियों के समकक्ष भी देखने लगते हैं । अभी ऊपर रहस्योन्मुख सन्तों की परंपरा में उनका स्थान निर्धारित करने के पश्चात् ही उनकी विचारधारा फिर पलटकर उनकी रचनाओं पर जाती है और वह घनानन्द का स्थान पूर्व निर्धारित परम्परा में न रखकर वैष्णवों की परम्परा में रख देते हैं—“घनानन्द ने सम्भवतः निगुण प्रेम भावना के कवियों, सन्तों तथा सगुण रूपरस परम्परा के भक्तों के जीवन के तात्त्विक भेद को अपने लिये स्वयं दोनों प्रकार का जीवन बिताकर देख-समझ लिया था और इसीलिये आगे चलकर सम्भवतः वे रहस्यवादी प्रेमी-कवियों, सन्तों की भावना से हटकर सगुण रसवादी वैष्णवों की परंपरा में आ जाते हैं ।” इस प्रकार श्री बहुगुनाजी इनको कभी रहस्यवादी प्रेममार्गी सन्तों में देखते हैं तो कभी इस आधार पर कि उन्होंने रहस्योन्मुखी

भावना के तत्वों को भी देखा और वैष्णव भक्तों की सगुण भावना को भी किन्तु बाद में उन पर वैष्णव भावना का प्रभाव पड़ा और वह वैष्णव कवियों की परम्परा में आ गये । बहुगुनाजीकी इस पहुँच का क्या आधार है ? इसका उन्होंने कोई प्रमाण देना भी उचित नहीं समझा । किंतु बिना आधार के इतने बड़े कवि के विषय में यह कैसे अनुमान लगा सकते हैं कि वह रंग बदलते रहते थे ।

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने स्वच्छन्द कवियों के विषय में अपना मत देते हुए केवल इतना संकेत किया—“स्वच्छन्द कवियों में सूफियों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण कहीं-कहीं रहस्य की झलक भर मिलती है । अपनी भावना में मेल खाती हुई इन कवियों की वृत्ति कृष्ण-भक्ति-भावना में लीन हुई । बात यह थी कि इन कवियों में से कई अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रेम की एकनिष्ठता के उपासक हुये । प्रिय की ओर से प्रेम की स्वीकृति उचित परिमाण में न पाकर, या उसमें किसी प्रकार की लौकिक बाधा उत्पन्न हो जाने के कारण ये संसार से विरक्त हो गये । ऐसी दशा में उनके लिये दो ही मार्ग थे । या तो ये निर्गुण सम्प्रदाय का अनुगमन करते या सगुण सम्प्रदाय में दीक्षित होते । निर्गुण में रूप की योजना न होने के कारण उसकी उपासना इनके चित्त के लिये अभिमत नहीं हो सकती थी, अतः उन्होंने सगुण में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति लीन की । रसखान और घनानन्द दोनों ने ही प्रेममार्ग या भक्तिमार्ग की इस विशेषता का उत्कीर्तन किया है ।” मिश्र जी ने इस प्रकार घनानन्द को प्रेमाभक्ति में लीन कवि के रूप में ही ग्रहण किया है । उन्होंने इस मत की पुष्टि के लिये घनानन्द का निम्नलिखित कवित्त उद्धृत किया है—

ज्ञान हूँ मैं आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रत उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै ।
जान ‘घनआनँद’ अनोखो यह प्रेम-पन्थ,
भूले ते चलत रहैं सुधि के थकित हूँ ॥

प्रेम के पन्थ से प्रभावित होकर ही घनानन्द ने कृष्ण भक्ति को स्वीकार

का पूर्ण प्रभाव था। सूफी सन्तों का प्रभाव उनकी रचनाओं में मिलता है। इसके अतिरिक्त निगुण-धारा का प्रभाव भी कहीं-कहीं पर है। कृष्णभक्त कवियों ने तो इनको अपने रंग में ही रँग लिया। रीतिकालीन शृङ्गारिक भावना भी इनके काव्य में कहीं-कहीं पर बड़ी प्रखरता के साथ है। कारण यह था कि इन्होंने अपने प्रेम के चित्र को प्रखरता देने के लिये ही उन सम्पूर्ण तत्वों को अपने काव्य में स्थान दिया।

वैष्णवों में कृष्ण के लोक-रंजक रूप को ही अपनाया गया था। राधा की उपासना इन वैष्णव आचार्यों में निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य ने ही अपनाई थी। सम्भवतः घनानन्द ने जो राधा की उपासना और महत्ता का प्रतिपादन किया है वह निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण ही किया हो। किंतु उनकी अन्य रचनाओं में कृष्ण की लीलाओं को जो प्रमुखता दी है वह सब सूरदास आदि बल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों की सी ही प्रतीत होती है। इसलिये यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि इनके ऊपर केवल निम्बार्क सम्प्रदाय का ही प्रभाव था।

सूफीमत और घनानन्द—कुछ लोगों का कथन है कि घनानन्द ने सूफियों के प्रेम की पीर को भी अपने काव्य में स्थान दिया। सूफियों में प्रेम की पीर को अधिक महत्व दिया गया है तथा सूफियों के काव्य में विरह को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। कुतुबन, जायसी और मंझन आदि कवियों की रचनाओं में प्रेम की कसक आदि से लेकर अन्त तक चलती है। नागमती के विरह वर्णन में जायसी ने जिस प्रेम को व्यंजित किया है वह अपनी समानता नहीं रखता। सूफियों के मतानुसार सम्पूर्ण सृष्टि उस अनन्त प्रिय के वियोग में रो रही है। घनानन्द के काव्य में भी इस सूफी पीर की झलक अनेक स्थानों पर है किन्तु अन्तर केवल यही है कि जहाँ सूफियों ने उस अज्ञात सत्ता का आवरण ढालकर उसे रहस्योन्मुख बनाया है वहाँ घनानन्द के काव्य में केवल अपने हृदय की वेदनाओं को प्रखर रूप देने के लिये ही उस पद्धति को अपनाया है। सूफियों में लौकिक प्रेम के द्वारा ही आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति मानी है। जायसी की 'पदमावत' में लौकिक कथा को ही पारलौकिक प्रेम के लिये चुना है। संयोग और वियोग दोनों वर्णनों में कवि उस अनन्त सत्ता की ओर संकेत

करता चलता है तथा उस आध्यात्मिक स्वरूप की झलक देखता है । जायसी ने लौकिक प्रेम को वर्णन करते-करते उसका सम्बन्ध आध्यात्मिक प्रेम से अनेक स्थलों पर जोड़ा है—

विरह के आगि सूर जरि काँपा । रातिहु दिवस जरहि उहि तापा ॥
अगिन उठी जरि उठी निआना । धुँआ उठा उठि बीच विलाना ।
पानि उठा उठि जाइ न छूआ । बहुरा रोइ, आइ भुइ चूआ ॥

इसी प्रकार लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करते-करते कवि पारलौकिक सौंदर्य को पदमावत में कई स्थानों पर देखता है ।

उन्ह बानन अस को जो न मारा । बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहि न गनै । वै सब बान ओहिके हनै ॥
धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाड़ देहि सब साखी ॥

सृष्टि के पदार्थों का कार्य भी सब उस अनन्त के सौन्दर्य के समागम के लिये ही है—

पुहुप सुगन्ध करहि एहि आसा ।
मकु हिरकाइ लेइ इन्ह पासा ॥

किन्तु घनानन्द ने इस प्रकार प्रेम का व्यापक रूप अपनी रचना में नहीं देखा । वह तो केवल लौकिक प्रेम को कृष्ण के ऊपर न्यूँछावर कर चुके थे । इसलिये यह कहना भी न्यायसंगत नहीं होगा कि घनानन्द का काव्य पूर्ण-रूपेण सूफियों की परम्परा में है । बस इतना ही कहा जा सकता है कि उनके ऊपर सूफियों का आंशिक प्रभाव अगर हो तो आश्चर्य नहीं । वह भी केवल इस कारण कि उन्होंने लौकिक प्रेम करते हुये कृष्ण की ओर भी संकेत किया है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूफियों में परमात्मा को पति और आत्मा को पत्नी माना गया है । इसलिये उनकी उपासना में पति-पत्नी भाव के कारण शृङ्गार को अधिक महत्व दिया गया । कृष्ण भक्तोंमें जो इस प्रकार की भावना

है सम्भवतः उस पर सूफियों के मादनभाव का प्रभाव नहीं। भारतीय भक्तों में जो माधुर्य भाव आया वह भी सूफियों के मादनभाव से भिन्न है। श्री चन्द्रवली पाण्डेय ने 'तसब्बुफ अथवा सूफीमत' नामक पुस्तक में इस भिन्नता को अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाया है—“भारतीय माधुर्यभाव का आलम्बन व्यक्त भगवान है। उसकी अलौकिक सत्ता हमारा उद्धार करती है और लौकिक हमें बराबर अपनी ओर खींचती रहती है। हम अपने आप को रति का अवतार समझते हैं काम का नहीं। सूफी इस विषयमें हमसे प्रतिकूल हैं। उनकी भक्ति का आधार मदन अथवा काम है रति नहीं। काम श्रमृत है तो रति आनन्द है और दोनों ही ब्रह्म के दो रूप हैं। माधुर्यभाव में रति काम को चाहती है तो मादनभाव में काम रति का पीछा करता है। एक मधुर, कोमल और मन्द है तो दूसरा उन्मत्त, भीषण और उग्र।”

उपर्युक्त उद्धरण से भारतीय प्रेम-पद्धति और सूफी प्रेम-पद्धति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। भारतीय भक्त आनन्द का इच्छुक है किन्तु सूफी भक्त उस अनन्त के साथ संभोग की लालसा रखता है।

घनानन्द का प्रेम मूलतः भारतीय पद्धति पर ही आधारित था। उनको प्रियतम के समागम की ललक उतनी नहीं जितनी कि उसके प्रेम को अनुभव करने की है। इसलिये उन्होंने प्रेम के पन्थ को ज्ञान से भी ऊपर माना है—

ज्ञान हू ते आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामें भोगी भोग जातखै ।
ज्ञान घन-आनँद अनोखो यह प्रेम पन्थ,
भूले ते चलत, रहै सुधि के थकित है ॥

घनानन्द के विरह वर्णन को भी सूफियों के प्रभाव का परिणाम कहा जाता है किन्तु यह भी उचित नहीं। उनका विरह भी शुद्ध भारतीय परम्परा पर ही आधारित है। सूफियों से प्रथम भी भारतीय साहित्य में विरह की प्रधानता थी। वरन् यह कहें तो श्रुत्युक्ति न होगी कि भारतीय काव्य प्रणेतान्त्रों ने विरह को जो महत्व दिया वह संयोग को नहीं। उधर धार्मिक क्षेत्र में आत्मा को परमात्मा का विरहिणी मानकर वैष्णव आचार्यों ने जनता को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित

किया । कृष्ण भक्तों के अन्दर आकर जो विरह का रूप परिलक्षित हुआ वह वैष्णव आचार्यों का प्रभाव था । सूरदास आदि कवियों ने उस विरह को अपने काव्य में अधिक महत्व दिया । सम्पूर्ण कृष्णकाव्य विरहिणी आत्मा (गोपियों) का ही रुदन है । सूर की गोपियाँ अपने प्रिय के वियोग में आँसुओं की धारा बहा चुकी थीं उसका प्रभाव घनानन्द के विरह व्यथित हृदय पर भी पड़ा । इसलिये यह कहना कि सूफियों की विरह वर्णन की पद्धति को अपनाकर ही घनानन्द ने अपने काव्य में विरह को इतना प्रमुख स्थान दिया न्यायोचित नहीं ।

सूफियों का प्रभाव पड़ा और वह केवल घनानन्द पर ही नहीं वरन् उनसे पूर्व के कृष्ण भक्त कवियों पर भी पड़ चुका था । किन्तु वह केवल इस कारण कि सूफियों की प्रेम-पद्धति में सामाजिक व्यवधान की कमी थी और वह एक ऐसी तड़पन को लेकर चला था जो उस समय के विलासप्रिय वातावरण के उपयुक्त था । नागरीदास आदि में इसके दर्शन होते हैं । घनानन्द ने भी इसी प्रकार सूफी प्रभाव में आकर कुछ रचनायें कीं । किन्तु उनके इतने बड़े काव्य को देखकर यह नगण्य ही है । 'वियोग बेलि' और 'इश्कलता' में यह प्रभाव परिलक्षित होता है—

लिखों कैसे पियारे प्रेम पाती ।

लगै आँसुअन भरी द्वै दूक छाती ॥

इसी प्रकार कटाक्षों का बाण हो जाना आदि प्रयोग भी सूफी प्रभाव को दिखाते हैं—

सलोनी स्याम मूरति फिरै आगे ।

कटाछें बान से उर आन लागे ॥

मुकट की लटक हिय में आय हालै ।

चितवनी बंक जियरा बीच सालै ॥

किन्तु यहाँ पर भी शैली का प्रभाव है । फारसी काव्य में हृदय का टुकड़े-टुकड़े होना, माँस का गलजाना आदि वीभत्स दृश्यों को भी वर्णित किया

जाता है । जायसी ने भी इस प्रकार का प्रयोग अपने काव्य में किया है—

‘विरह सरागन्हि भूँजै माँस’

‘इश्कलता’ में भी घनानन्द पर कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है—

दीजे इननू सीख सलोने साँवरे ।

खून करै ये नैन हुये लड़ बावरे ॥

खूनी कीये-जाय करेजें धाव है ।

आनँद-जीवन जान न और बचाव है

यदि घनानन्द के काव्य में इस प्रकार के स्थलों को देखा जाय तो वह बहुत कम हैं । वास्तव में घनानन्द एक प्रेमी थे और उनका प्रेम भी कुछ इतना घनीभूत होगया था कि उसे जिधर ही अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग मिला उधर ही उसकी धारा प्रवाहित हो चली । सूफियों की प्रेम पद्धति के दार्शनिक पक्ष से उनको कोई भी तात्पर्य नहीं था । उनको यदि उनकी शैली कहीं अच्छी लग गई तो उन्होंने उसको अपना लिया । इसलिये इन कतिपय उदाहरणों के द्वारा जो लोग उनमें सूफी प्रभाव की व्यापकता को ढूँढने का कष्ट करते हैं वह उनके साथ अन्याय और अपने समय का दुरुपयोग करते हैं । जहाँ तक उनकी प्रेम की पद्धति का प्रश्न है वह शुद्ध भारतीय ही है ।

निर्गुण सन्तों का प्रभाव

कुछ विद्वानों ने घनानन्द की प्रेम-पद्धति को निर्गुण सन्तों की रहस्योन्मुख प्रेम-पद्धति से मिलाने का प्रयत्न किया है । श्री शम्भुप्रसाद जी के मत को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं उनका कथन इसी प्रकार है । किंतु घनानन्द में निर्गुण तत्वों का ढूँढना भी हास्यास्पद प्रतीत होता है । उन्होंने कृष्ण और राधा के साकार रूप का ही वर्णन किया है । किन्तु रहस्योन्मुख कवियों में सगुण का कोई स्थान नहीं । उनके विरह को भी कबीर, दादू आदि सन्तों से प्रभावित बताया है । किन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि कृष्णोपासकों में यह विरह की तीव्रता वैष्णव आचार्यों के प्रभाव से ही आई थी । इसके अतिरिक्त जयदेव,

विद्यापति, चैतन्य और चंडीदास में भी इस विरह को प्रमुख स्थान सूफियों और निगुण सन्तों से पूर्व ही दिया जा चुका था। कबीर के ऊपर भी दक्षिण के आचार्यों का प्रभाव था। परमात्मा और आत्मा का विरह उन्होंने वेदान्त के प्रभाव से प्रभावित होकर ही लिया था। तुलसी जैसे सगुणोपासक भी निगुण से कुछ न कुछ इसीलिये ही प्रभावित हुए कि उन पर वेदान्त का प्रभाव था—

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास ।

निगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

सूरदास ने भी कहा है कि निगुण अरूप है इसीलिये वह अग्रगम्य और अगोचर है इसलिये ही सगुण ईश्वर की उपासना करता हूँ। इससे स्पष्ट है कि इन भक्तों के ऊपर वेदान्त के निगुण ब्रह्म का प्रभाव था। वह उसे उपासना के लिये उपयुक्त न समझकर ही एक ऐसे आलम्बन को लेकर चले जिसको जनता सुगमता से अपना सके। राम और कृष्ण का रूप जनता में प्रचलित था। उनको अवतार के रूप में ग्रहण कर लिया गया। इसी प्रकार यदि घनानन्द के कतिपय पदों में निगुण ब्रह्म के विषय में कोई संकेत मिल जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम उनको कबीर और दादू की पंक्ति में खड़ा करके देखने लगें। यदि उन्होंने इस प्रकार के कुछ पद लिखे हैं तो वह वेदान्त दर्शन के प्रभाव के कारण जिसमें ब्रह्म को निराकार माना है। घनानन्द के काव्य में इस प्रकार के पदों की न्यूनता ही है। यदि कहीं पर उन्होंने निगुण के विषय में कहा है तो इस प्रकार की कुछ उक्तियाँ बिहारी और देव में भी हैं किन्तु उनका सम्बन्ध कभीभी रहस्यवादियों से नहीं लगाया गया। बिहारी ने निराकार ब्रह्म के विषय में कहा है—

जगतु जनायौ जिहि सकल सो हरि जान्यौ नाहिं ।

ज्यों आँखिन सब देखियत आँखि न देखी जायँ ॥

बुधि अतुमान प्रमान श्रुति किए नीति ठहरायँ ।

सूक्ष्म कटि परब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाय ॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल ।

प्रगटति निगुन निकट रहि चंग रंग भूपाल ॥

किंतु उपर्युक्त दोहों के आधार पर ही महाकवि बिहारी को यदि निगुणोपासक भक्तों की श्रेणी में रख दिया जाय तो यह उचित नहीं। किसी भी कवि को उस समय तक किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं बताया जा सकता जब तक उसकी रचना में उस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को प्रचुर रूप में न अपनाया गया हो। बिहारी का अधिकतर काव्य शृङ्गार के चित्रों को ही प्रस्तुत करता है। इसलिये उनके कुछ पदों के आधार पर उन्हें निगुणोपासक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार घनानन्द में यदि हम ध्यान से खोजने पर कुछ पद पा जाते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह निगुणोपासक भक्त थे। कुछ विद्वानों ने घनानन्द के इस पद के द्वारा ही उनको निगुण सम्प्रदाय का बना दिया है और उनके प्रेम को रहस्योन्मुख बतलाया जाता है—

आयु जौ वायु तौ धूरि सबै सुखजीवन मूरि सम्हारत क्यों नहीं ।
वाहि महागति तोहि कहा गति बैठे बनेगी बिचारत क्यों नहीं ॥
नेमिनि संग फिरथौ भटक्यौ पल मूँदि सरूप निहारत क्यों नहीं ।
स्याम-सुजान-कृपा घनआनंद प्रान-पपीहनि पारति क्यों नहीं ॥

किन्तु केवल इसी सवैये के आधार पर हम उसको यदि निगुणोपासक कहने लगे तो हमारी बुद्धि पर अन्य लोगों को आश्चर्य अवश्य होगा। इस सवैये में कवि ने निराकार को उसी प्रकार स्मरण किया है जिस प्रकार सूर तथा बहुत से रीतिकालीन कवियों ने भी किया है। पुराणों के प्रभाव से ब्रह्म का अवतार रूप में प्रकट होना भारतीय भक्तों में ही नहीं वरन् साधारण लोगों में भी मान्य हो चुका था। आज भी रामायण का पाठ करने वाले बहुत से ग्रामीण इस बात को जानते हैं कि ब्रह्म निराकार है किन्तु भक्तों के दुखों को दूर करने को वह अवतार लेकर इस जगत में रहता है। फिर घनानन्द तो एक विद्वान् पुरुष थे। अनेक महात्माओं और सन्तों का समागम भी वह करते ही रहते थे। इसलिये यदि उन्होंने निराकार ब्रह्म का नाम लिया तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि वे निगुण सन्तों की परम्परा में बैठा दिये जायें। वास्तव में सुजान के लौकिक प्रेम की असफलता के कारण ही उन्होंने कृष्ण जैसे अलौकिक आलम्बन के प्रति अपने प्रेम को परिवर्तित करके अपने

हृदय की अशान्ति को मिटाया । कृष्ण का रूप सौन्दर्य उनके लिये आनन्दका स्रोत बन गया । और इस प्रकार के रूप और सौंदर्य को पाकर ही वह अपनी प्रेमिका के रूप की भाँकी उसमें देख सके ।

वैष्णव प्रभावः—महाकवि घनानन्द की रचनाओं में कृष्ण तथा राधा का वर्णन प्रचुरता से मिलता है और इसी कारण कुछ विद्वानों ने इनको भक्त कवियों की कोटि में रखने का प्रयत्न भी किया है । उनके काव्य में राधा भी प्रमुखता के साथ वर्णित है जिससे कुछ विद्वानों ने इनको निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित कहा है । निम्बार्कचार्य ने राधा की उपासना को अधिक महत्व दिया था । इनका कथन था कि राधा और कृष्ण का सम्मिलित रूप ही भक्ति का प्रधान रूप है । इस प्रकार राधा और कृष्ण की युगल मूर्ति के साथ शृङ्गार भावना भी भक्ति के क्षेत्र में आ गई । राधा का शृङ्गारिक वर्णन निम्बार्क सम्प्रदाय में भक्ति का रूप माना गया । निम्बार्कचार्य ने राधा के इस रूप को शाक्त प्रभाव से प्रभावित होकर लिया था । यह कहना असत्य होगा कि भागवत के प्रभाव से इन्होंने राधा के रूप को अपनी भक्ति-पद्धति में ग्रहण किया । भागवत में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का वर्णन अवश्य हुआ है किन्तु राधा का कहीं नाम नहीं आया । एक ऐसी गोपी की चर्चा अवश्य है जो कि कृष्ण के साथ एकान्त में विहार करती है । उस गोपी के भाग्य की सराहना अन्य गोपियों के द्वारा की जाती है कि यह उसका पूर्व जन्म का फल है जो कृष्ण के प्रेम की अधिकारिणी हुई । लेकिन 'राधा' नाम का उल्लेख श्रीमद्भागवत में कहीं भी नहीं । वास्तव में राधा को शाक्तों ने शक्ति के रूप अपने सम्प्रदाय में बहुत पहले ग्रहणकर लिया था तथा शिव को कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित करके अपनी भक्ति में स्थान दिया था । प्रथम शताब्दी की रचना गाथा सप्तशती में जो राधा और कृष्ण का रूप मिलता है वह शाक्तों का ही प्रभाव है । (देखिये गीतकार विद्यापति पृष्ठ १८४-८५)

वैष्णव आचार्यों में सर्व प्रथम निम्बार्क ने जनता में परम्परा से प्रचलित राधा-कृष्ण के शृङ्गारिक रूप को ग्रहण किया । राधा को कृष्ण की शक्ति माना गया । बल्लभ ने राधा के इस रूप को व्यापक बना दिया और इस प्रकार शाक्तों की शृङ्गार-भावना वैष्णव धर्म में आकर समाहित हो गई । जयदेव

और विद्यापति ने भी राधा के रूप को शाक्तों से ही अपनाया था। राधा का रूप हिन्दी साहित्य में दो प्रकार से आया। निम्बार्क के द्वारा तो उसे धार्मिक रूप दिया गया तथा विद्यापति आदि कवियों ने उस कविता के क्षेत्र में लाकर कवियों को एक ऐसी सौन्दर्य की प्रतिभा दी जिसके रूप के वर्णन को करते २ वे अभी तक तृप्त नहीं हुये।

घनानन्द में राधा के दोनों रूप हैं। जहाँ पर उन्होंने कृष्ण की शक्ति के रूप में लिया है वहाँ राधा साम्प्रदायिक धरे में ही हैं किन्तु जहाँ उनको केवल शृङ्गार भावना को अभिव्यक्त करने का साधन बनाया है वहाँ पर उनका वही रूप है जो शताब्दियों से कवियों के द्वारा जनता की शृङ्गार भावना को सन्तुष्ट करने के लिये वर्णित होता आया था। कृष्ण-भक्त कवियों ने उस पर दर्शन का आवरण चढ़ाकर ग्रहण किया इसलिये सूरदास आदि कवियों में राधा का स्थान बहुत ही उच्च एवं भक्तों की मुक्ति का स्रोत रहा किन्तु आगे चलकर रीतिकाल के कवियों में केवल शृङ्गार की देवी के रूप में ही राधा को ग्रहण किया गया। इस प्रकार भक्तों को अपनी कृपा से मुग्ध करने वाली शक्ति का रूप एक सामान्य नायिका में ही देया जाने लगा। घनानन्द के काव्य में राधा के दोनों रूप हैं। उनकी लीलाओं को एवं उनकी गुण गाथाओं को वैष्णव कवियों के समान भी वर्णित किया है तथा शृङ्गारी कवि के रूप में राधा को एक सामान्य नायिका बना दिया है। नीचे राधा के दोनों रूपों को दिया जाता है।

‘भावना प्रकाश’ में घनानन्द ने राधा और कृष्ण के साम्प्रदायिक रूप को प्रदर्शित किया है—

‘राधा मोहन जोट अनूप। अमल अनन्द अपूरव रूप ॥

उनकी लीला अचरज खानि। कौन सके या मरमहि जान ॥’

कृष्ण और राधा के प्रेम को भी कवि ने किस उच्चभूमि पर वर्णित किया है—

‘प्रेम विवस न गिनत निसि भोर। दोउ दुहुँ के चन्द्र चकोर ॥

केलि कला पंडित रस मण्डित। नित नव-नव रुचि-रचे अग्वंडित ॥

राधा को घनानन्द ने अपनी उपासना का केन्द्र भी कई स्थानों पर बनाया है—

‘आळी ताननि गाय रिभाऊँ । रीझि रीझि राधाहिं रिभाऊँ ॥’

ब्रज की सम्पूर्ण बनस्पति भी राधा और कृष्ण की शोभा को पाकर नया नया रूप धारण करती है—

वन संपति दंपति मई नई नई नित जोति ।

कृष्ण राधिका रूप तें, जगमग जगमग होति ॥

यमुना की महत्ता भी इसीलिये है कि यह राधा के अङ्गों का स्पर्श करती है—

राधा कौ रस जमुना जानै । भानु नंदनी नातौ मानै ।

जमुना हृदय रहत नित राधा । जमुना लखै टरै भ्रम बाधा ॥

घनानन्द ने राधा की वन्दना भी अनेक स्थानों पर की है जिससे यह प्रतीत होता है कि वह निम्बार्क मतानुयायी ही होंगे—

ऐसी रूप अगाधे राधे, राधे राधे राधे राधे ।

तेरे मिलिवे कों ब्रजमोहन बहुत जतन है साधे ॥

उनकें निसिदिन लगी रहै जक तू न धरति पल आधे ।

आनन्द-धन पिय चातक चौपिन हा राधे आराधे ॥

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर राधा की वन्दना कवि अत्यन्त भक्तिभाव से करता है—

‘राधिका-चरन बन्दन करि बखानौँ’

किन्तु केवल कुछ पदों के आधार पर इनको निम्बार्क मतानुयायी नहीं माना जा सकता । इनके अधिकतर कवित्त और सबैये उनकी शृङ्गारिक भावना के ही प्रतीक हैं ।

राधा का रीतिकालीन रूपः—

जिस राधा को कवि ने अपनी आराध्य देवी के रूप में वर्णित किया था उसी को वह एक सामान्य नायिका के समान भी वर्णित करने लगता है । एक

भक्त कवि कभी भी अपनी हृदय प्रतिभा के प्रति इस प्रकार के भाव व्यक्त नहीं करेगा। सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों में राधा के प्रति शृङ्गार की भावना कहीं कहीं पर आई है किन्तु वहाँ पर उन कवियों ने दर्शन का आधार ले लिया है और इस प्रकार उन पर अश्लीलता का दोष नहीं लगा। किन्तु घनानन्द ने अपने काव्य में जो सम्भोग का वर्णन किया है वह नितान्त लौकिक है। वह केवल कवि की शृङ्गारिक भावना को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार की अनेक रचनायें प्रस्तुत की जा सकती हैं। राधा और कृष्ण के सम्भोग सुख का एक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने रीतिकालीन प्रभाव के परिणाम स्वरूप ही उसे चित्रित किया है—

सोए हैं अङ्गनि अङ्ग समोए सु भोए अनङ्ग के रङ्ग निस्व्यों करि ।
केलि कला रस आरस आसव पान छुकै घन-आनन्द यों करि ॥
प्रेम निसा मधि रागत पागत लागत अंगनि जागत ज्यों करि ।
ऐसे सुजान विलास निधान हौ सोए जगे कहि व्योरिये क्यों करि ॥

इस प्रकार के अनेकों वर्णन उनकी काव्य कृति में भरे पड़े हैं। साथ ही कुछ इस प्रकार वर्णन भी है जिन की शृङ्गारिक भावना सूरदास, नन्ददास आदि कवियों की कोटि की है।

इन दोनों प्रकारों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि घनानन्द सूरदास के समान कृष्ण और राधा की लीलाओं को लेकर ही अपने काव्य में नहीं चले वरन् कहीं कहीं पर लौकिक प्रेम को ही उन्होंने स्पष्ट रूप से वर्णित किया है। भक्त कवि कभी अपनी राधिका को इस निम्न स्तर नहीं उतार सकता। इससे स्पष्ट है कि घनानन्द पर अपने काल का भी कुछ प्रभाव था जिससे उनको बचना असम्भव था। उनके काव्य में राधा को खंडिता नायिका भी बना दिया है जो एक भक्त कवि के लिये उचित नहीं था।

इसके अतिरिक्त उनके सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सुजान सागर' में जो उनकी भावना व्यक्त हुई हैं। उनमें लौकिक प्रेम को ही अधिक महत्व दिया है। केवल कृष्ण को उनके द्वारा दिया हुआ सुजान नाम अवश्य कई स्थानों पर आया है। भक्त कवियों के प्रत्येक पद में 'प्रभु' 'भगवान' आदि शब्दों के द्वारा

ईश्वर को संबोधित किया गया है। सूरदास के तो प्रत्येक पद में कृष्ण का स्मरण साथ २ होता चलता है किन्तु घनानन्द के काव्य में अधिकतर सुजान के नाम को ही महत्व दिया गया। कहीं पर तो कवि ने चेष्टाओं का ही वर्णन किया है—

मन उनमाद स्वाद मदन के मतवारे,
केलि के अवारि लों संवारि सुख सोये हैं ।
भुजनि उसी सो धारि अन्तर निवारि जानु,
जंघन सुथारि तन मन ज्यों समोए हैं ।
सुपने सुरति पागें महाचोप अनुरागें,
सोये हू सुजान जागें ऐसं भाव भोए हैं ।
छूटे बार दूटे हार आनन अपार शोभा,
भरे रस सार घन आनन्द अहोए हैं ॥

घनानन्द में भक्ति के तत्वों की न्यूनता थी और शृङ्गार की भावना का प्राधान्य था। उनके काव्य में केवल पदावली और कुछ अन्य रचनाओं में ही उन्होंने भक्ति का समावेश किया है अन्यथा उनके काव्य का एक बड़ा भाग शृङ्गार और प्रेम की ही अभिव्यक्ति है।

कृष्ण भक्तों का प्रभावः—घनानन्द की भक्ति-पद्धति को विद्वानों ने कृष्ण भक्त कवियों से प्रभावित कहा है उसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिये क्योंकि कृष्ण और राधा को ही घनानन्द ने अपने काव्य में अधिक स्थान दिया किन्तु साथ ही उन की भक्ति-पद्धति के आधार पर निम्बार्क मत से जोड़ना असंगत प्रतीत होता है। ऊपर हम दिखा चुके हैं कि राधा की उपासना निम्बार्क मत में प्रधान थी और घनानन्द ने भी अपने काव्य में राधा को अनेक स्थानों पर देखा है लेकिन साथ ही कृष्ण की लीलाओं को भी उन्होंने प्रधानता दी है। वृन्दावन, यमुना - वर्णन, रास विहार, युगल दर्शन, गोकुल वर्णन, वृषभानुपुर सुषमा, दान लीला आदि अनेकों ऐसे विषयों को भी अपने काव्य में स्थान दिया जो बल्लभाचार्य के द्वारा प्रतिपादित पुष्ट-मार्गी मत का प्रभाव है। सूरदास आदि कवियों ने बल्लभाचार्य के द्वारा प्रतिपादित

सिद्धान्तों को अपनाकर अनेक मौलिक तत्वों का समावेश भी किया। उसी प्रकार घनानन्द आंशिक रूप से तो निम्बार्क सम्प्रदाय से प्रभावित रहे लेकिन उन्होंने अपनी प्रेम साधना में अन्य मतों और सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को भी अपना लिया। जहाँ उन्होंने लीलाओं को प्रमुखता दी है वहाँ वह कृष्ण - भक्त कवियों से प्रभावित है। जहाँ प्रेम की पीर का वर्णन है वहाँ उन पर सूफी प्रभाव है। सूर के समान घनानन्द ने भी कृष्ण को अनेकों रूपों में देखा है। बल्लभ ने कृष्ण के बाल रूप को ही अधिक महत्व दिया था लेकिन सूरदास ने अपने कृष्ण को बाल-रूप के अतिरिक्त युवक रूप में भी देखा। घनानन्द ने राधा को पूर्ण युवती के रूप में चित्रित करके अपनी शृङ्गार भावना का परिचय दिया है—

सारी सुरङ्ग चहचही निपट पहिरे राधा गोरी ।
 सांवरे वरन गोल कपोलनि हिल मिलि खिलै ॥
 भूलै जोबन उमङ्ग गङ्ग बोरी ।
 नथ के मुक्ता पानिय भरे भाल पै दिपति लाल बंदी ।
 मधुर अधर बोरी खान उधरि कगति चितकी चोरी ॥
 आनन्दघन पिय कौ हिय नीबी कमनि गसनि बस्यौ ।
 लङ्क लचकि निसंक अङ्क भरति दुति औरी ॥

घनानन्द ने कृष्ण के जन्म के विषय में भी लिखा है—

‘आजु हमारे काजु है हो जन्यौ जसोमति मोहन स्याम उजियारो ?
 वृन्दावन और यमुना का यश भी घनानन्द ने अनेकों पदों में गाया है—

जमुना देखे ही दुख भाजै ।
 इन्द्रनील मनि इन्दीवर दलहू की उपमा लाजै ॥
 सब सुख राखि रसामृत-सीवा वृन्दावन में राजै ।
 आनन्द घन ब्रजमोहन पीय के अङ्ग संग रङ्ग साजै ॥

जिस प्रकार सूरदास ने मुरली को भी कृष्ण के साथ २ अधिक महत्व दिया है इसी प्रकार घनानन्द ने भी मुरली को लेकर अनेक कवितायें लिखी हैं—

‘स्याम सुन्दर की मुरली बाजै, सह सुरभेद सों खवन सुनत
सुधि बुधि बिसरै रह्यौ न परत बिन देखे ऐरी ।’

वंशी की ध्वनि को सुनकर गोपियों की वही अवस्था होती है जो सूरदास
आदि कवियों की गोपियों की भी हो जाती है—

‘बाजै बन मधुर बैन सुनि न रह्यौ परत भवन’

कृष्ण और राधा के नृत्य और रास को भी घनानन्द के काव्य में कृष्ण
भक्तों के समान ही महत्व दिया गया है ।

मंडल मधि लटकि लटकि नाचत पिय प्यारी ।
फैलि फवनि काछनी लग लेति लहर सारी ॥
पहुँचनि मुरि मंजुल कर कंज तरल तारी ।
रूप अजिर गरजित लखि चरननि निमिष डारी ॥
मुख मय मुख मधुर हसनि दसन-दुति उज्यारी ।
सरद चंदकान्ति छुटनि पांति छेक डारी ॥
भृकुटि नचनि ग्रीव लचनि लंक लहकि न्यारी ।
येइ येइ कह कंठ-किलक पिय तिय जिय-ज्यारी ॥
उरसि मुक्त माल हाल हेरत हिय डारी ।
कंचुकि गुन-गसनि रसिक लोचन फन्दवारी ॥
चोंप चुहल मचि सचि सुर करि अलाप चारी ।
विरल राग रूप रचत श्रवन मोद कारी ।
ससि-मयूरव-रंजित वन रसनिधि-वढवारी ।
आनन्द धन पलित फलित केलि बेलि बारी ॥

वंशी में जो सपत्नी रूप सूर की गोपियों ने देखा था घनानन्द की राधा
भी उसी प्रकार वंशी के प्रति अपनी भावना प्रकट करती है—

बंसुरिया सौति तें अधिक दहै ।

बन घन लिये फिरति मोहन कों यह गति कौन कहै ।

देखन हू की चोर कानि बस को ये सूल सहै ।

लक्षित होता है । किन्तु उस भक्ति को भी केवल इसीलिये अपनाया था जिसमें उनको अपने हृदय के प्रेम विषयक उद्गारां को व्यक्त करने में सहायता मिली । उनके काव्य का प्रमुख स्वर प्रेम था भक्ति नहीं । इसलिये घनानन्द को एक प्रेम के गायक के रूप में ही मानना अधिक न्याय संगत होगा जिस सम्प्रदाय में उनको अपने प्रेमतत्व के प्रदर्शन का अवसर मिला उसी की उन बातों को इस महाकवि ने अपनाया । इसलिये हम यही कह सकते हैं कि घनानन्द जिस प्रकार काव्य प्रणाली की एक बँधी लकीर पर नहीं चले थे । उसी प्रकार किसी एक भक्ति-पद्धति और सम्प्रदाय को भी उन्होंने नहीं अपनाया । यहाँ भी उनका दृष्टिकोण स्वच्छन्द ही रहा ।

स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवियों में धनानन्द का स्थान

स्वच्छन्द कवियों की प्रेरणा का स्रोत—रीतिकाल की शृङ्गारमयी-धारा अपनी अवाध गति से प्रवाहित होरही थी । रीतिबद्ध कवि मतिराम, देव बिहारी, सेनापति, पद्माकर आदि ने प्रेम की स्थूलता को चरम सीमा तक पहुंचा दिया । दूतियों और सखियों को रीतिबद्ध कवियों ने प्रेम का सौदा पटाने में दलाल के समान प्रयुक्त किया था । बिना उनकी प्रशंसा के न तो नायक ही नायिका पर रीझता था और न नायिका ही नायक पर रीझती थी । यदि किसी प्रकार दूती और सखियों के बिना आये यदि नेत्रों से सौदा पटा भी लिया तब भी उनके मिलन का प्रबन्ध यह दूती और सखियाँ ही करती थीं । रीतिबद्ध कवियों में सपत्नियों की ईर्ष्या, खरिडता का वाग्वैदग्ध्य, मानिनी के नखरे, अज्ञात यौवना का भोलापन, ज्ञात यौवना की शिक्षा आदि विषयों को ही अधिक महत्व दिया गया । प्रेम नाम का रूप केवल नायक-नायिका के शारीरिक सुख-भोग में ही निहित था । प्रेम की अन्तर्मुखी शक्ति को किसी भी कवि ने नहीं पहिचाना । सौन्दर्य के वाह्य-रूप का चित्रण ही उस काल के कवियों का मुख्य विषय होगया । जिस प्रकार प्रेम को वाह्य अङ्गों का आकर्षण मात्र समझा उसी प्रकार उनका काव्य भी वाह्य साज-सजा से युक्त था । भाषा अलङ्कार, छन्द आदि की ओर इन कवियों का ध्यान अधिक रहा । अन्त-वृत्तियों के निरूपण को रीतिबद्ध कवियों ने अपने काव्य में स्थान नहीं दिया । किन्तु उस धारा के तीव्र प्रवाह में भी कुछ ऐसे कलाकार उत्पन्न हुये जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को उस विषाक्त वातावरण से बचाकर उस धारा की ओर ले जाकर मिला दिया जो भक्तिकाल से ही अपनी स्वच्छन्द गति को लेकर चली थी और उस धारा के कवियों ने भक्त कवियों के समान किसी सम्प्रदाय विशेष

से अपने व्यक्तित्व को प्रभावित नहीं होने दिया। उस स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवि थे रसखान और आलम। रीतिकाल के स्वच्छन्द प्रेम के कवि घनानन्द, ठाकुर और बोधा भी भक्ति काल के उपर्युक्त दोनों कवियों के समान स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति में ही संलग्न रहे। जिस प्रकार भक्तिकाल में रसखान ने अपने कृष्ण विषयक प्रेम की अनन्यता को स्वच्छन्द रूप से अपने काव्य में अभिव्यंजित किया और किसी भी सम्प्रदाय विशेष का अंकुश अपने ऊपर नहीं रहने दिया इसी प्रकार रीतिकालीन कवियों में भी प्रेम की अन्तर्भेदिनी शक्ति को पहिचान ने वाले कवियों में घनानन्द, बोधा और ठाकुर हैं। जिस प्रकार महाकवि भूषण ने उस काल की शृङ्गारमयी धारा को चीरकर वीररस की स्रोतस्विनी में अपनी भावरूपी नौका को बहाया था इसी प्रकार इन तीनों स्वच्छन्द कवियों ने भी शृङ्गार की दूषित और उथली धारा को छोड़कर शृङ्गार के सागर में अपनी मर्मभेदिनी कल्पना के द्वारा अनेक भाव रूपी मोतियों को खोज निकाला।

रीतिमुक्त धारा के यह तीनों कवि प्रेम के उदात्त रूप को अपनाकर ही चले। तीनों प्रेम कवियों ने हृदय की सरल एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति की ओर ही अधिक ध्यान रखा। इनका प्रेममार्ग रीतिबद्ध कवियों के समान चतुरता और वक्रता पर आधारित न होकर सरलता एवं सत्यता पर ही आधारित था। घनानन्द ने स्पष्ट घोषणा की थी—

‘अति सूधो सनेह कौ मारग है,
जहाँ नैंक सयानप बाँक नहीं।
जहाँ सूधे चलें तजि आपुनपौ,
भिक्षकें कपटी जे निसाँक नहीं।’

रीतिमुक्त इन स्वच्छन्द कवियों ने अपनी प्रेम पद्धति को अनन्य प्रेम एवं प्रेम की एकनिष्ठता पर ही आधारित रखा। उनके हृदय में केवल अपने प्रेमपात्र के विषय में ही भावोंका आलोड़न विलोड़न होता था। इनका प्रेम उन्मुक्त एवं लोकलाज और कुल के बन्धनों से परे था। रीतिकालीन कवियों में गुरु-जनों के बीच नायक अथवा नायिका की कल्पना करके अनेक संकेतों के द्वारा

प्रेम की खिलवाड़ दिखलाने का उपक्रम किया जाता था । कभी नायिका अंधेरी रात्रि में प्रिय से मिलने के लिये काली साड़ी पहिनती थी, तो कभी चाँदनी में अपने शरीर की कांति को मिलाकर बिना भिन्नके ही वह प्रियतम से मिलने चल देती थी । किन्तु इन प्रेम के दीवाने कवियों ने इस प्रकार की लुकाछिपी को अपने प्रेम में नहीं अपनाया । इन कवियों का प्रेम तो जैसा अन्तर में था वैसा ही समाज और जगत के समक्ष भी था । जिस प्रियतम को हृदय में स्थान दे दिया उसको फिर निकाल कर अन्य का ध्यान करना असम्भव था । प्रेमकी जिस अनन्यता का बीजारोपण रसखान ने भक्तिकाल में किया था उसी की गूँज इन रीतिकाल के स्वच्छन्द प्रेमियों के हृदय में भी व्याप्त हुई । रसखान ने गोपियों के अनन्य प्रेम को ही अपने प्रेम का आदर्श रखा था । अनन्य प्रेम के कारण ही श्रीकृष्ण 'छल्लिया भरि' छाल्ल में नाँचते फिरते थे । प्रेम के ऐसे ही रसमय, स्वाभाविक, निस्वार्थ, निश्चल एवं विशुद्ध रूप को ही रसखान ने आदर्श और उच्च प्रेम की संज्ञा दी थी । उन्होंने स्पष्ट कहा था—

रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल, महान ।

सदा एक रस, शुद्ध सोइ, प्रेम अहै रसखान ॥

स्वच्छन्द कवियों का अनन्य प्रेम—स्वच्छन्द कवि घनानन्द, बोधा और ठाकुर का प्रेम भी इसी प्रकार का उच्च प्रेम ही था । प्रेम की अनन्यता इन कवियों का सबसे प्रधान गुण था । घनानन्द तो जीवन पर्यन्त अपने प्रेम की एकनिष्ठता को ही गाते रहे । उनके हृदयमें अपने प्रिय के अतिरिक्त किसी को भी स्थान नहीं—

घन-आनँद प्यारे सुजान सुनो,

यहाँ एकतैं दूसरो आँक नहीं ।

तुम कौन धौ पाटी पढ़े हौ कहौ

मन लेत हौ देत छटाँक नहीं ॥

प्रेम के उच्च आदर्श को ही बोधा कवि ने अपनाया है । उन्होंने कहा है कि संसार में अनेक प्रकार का प्रेम है । जिसे जो रुचिकर हो वह उसी को अपनाये । प्रेम करना तो आसान है किन्तु एक रस रहना ही उस प्रेम की

उच्चता है। जो प्रेमी प्रेम के निर्वाह को जीवन के अन्त तक करते हैं वही प्रेमियों में आदर्श हैं। और उसी की संसार में सराहना होती है—

भाँति अनेक प्रीति जग माँहीं । सबही सरस कोऊ घट नाहीं ॥
जाको मन विरभो है जामें । सुखी होत सोई लखि तामें ।
ताते सुनि यारी दिल दायक । कीजे प्रीति निवहिबे लायक ॥
प्रीति करै पुनि और निवाहै । सो आशिक सब जगत सराहै

ठाकुर कवि ने भी प्रेम के निस्वार्थ और निष्काम रूप को ही आदर्श प्रेम की संज्ञा दी। प्रेम की अनन्यता एवं एकनिष्ठता इनकी कविता का भी विशेष गुण था—

एक ही सों चित चाहिये ओर लों,
बीच दगा कौ परै नहिं डोंको ।
मानिक सो मन बैचिके मोहन,
फेर कहा परखाइबो ताको ॥
ठाकुर काम न या सबकौ,
अब लाखन में परवान है जाको ।
प्रीति करै में लगै है कहा,
करिकें इन ओर निबाहिबो बाँको ॥

इस प्रकार प्रेम के इन तीनों उन्मुक्त गायकों के हृदय में प्रेम के ऊपर बलिदान हो जाने का साहस है। किसी को अपना बना लेना अथवा किसीका हो जाना यह इन स्वच्छन्द प्रेमियों की विशेषता है।

इन सम्पूर्ण कवियों ने जीवन में प्रेम किया था और उस प्रेम की असफलता के कारण ही इनके हृदय का तार-तार भङ्गुत था। इनकी हृत्तन्त्री के जो स्वर निकले उनमें वेदना का इतना मार्मिक और हृदयस्पर्शी स्वर है जो बरबस ही हृदय में एक कसक उत्पन्न कर देता है। रीतिबद्ध कवियों के प्रेम के विषय में हम अनेक स्थानों पर कह चुके हैं कि उसमें वासना का प्राधान्य था। वे कवि नायक, नायिका के अनेकों कार्य-व्यापारों को ही वर्णित करते रहे। संभोग और सुरति के वर्णनों में उन कवियों को अत्यन्त आनन्द

होता था और वही उनका प्रेम था। किन्तु रीतिमुक्त कवियों का प्रेम अन्तर्मुखी था। हृदय के सच्चे उद्गारों को ही इन कवियों ने अपने काव्य में स्थान दिया। चमत्कार और खिलवाड़ से इनका कोई प्रयोजन नहीं। घनानन्द ठाकुर और बोधा सभी ने अपने काव्यों में अन्तर्वृत्तियों के चित्रण को ही प्रमुखता दी और इसी कारण यह रीति की परम्परा से निकल कर मुक्त और स्वच्छन्द होकर विचरण करते रहे। इन कवियों की कविता किसी राजा अथवा सामन्त के मनोविनोद का साधन नहीं थीं प्रत्युत हृदय के वे उद्गार थे जो अचानक ही किसी ठेस के लगने पर निस्सरित होने लगे थे। इन सम्पूर्ण कवियों में प्रेम की पीर पर्याप्त मात्रा में है इसका कारण सूफी प्रभाव हो सकता है। प्रेम की विभोरता इन सब कवियों में किसी न किसी रूप में पाई जाती है। घनानन्द पर प्रेम का जो नशा था वह इन दोनों कवियों के नशे से बहुत बढ़ा चढ़ा था। वे तो प्रेम के दीवाने ही थे। बोधा भी प्रेम की मदिरा से छक चुके थे और नशा भी किसी न किसी प्रकार घनानन्द की ही कोटि का था किन्तु उनके काव्य का विषय कथा प्रधान होने से प्रेम की उतनी तीव्र व्यञ्जना नहीं हो पाई जो घनानन्द के काव्य में मिलती है। फिर भी उनकी कुछ उक्तियाँ इतनी मार्मिक हैं जिनकी समानता प्रेम कवियों की बहुत कम रचनाओं में मिलेगी। एक स्थान पर कवि के हृदय की अन्तर्मुखी पैठ की सराहना प्रत्येक भावुक मनुष्य को करनी पड़ती है—

कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो
 यह धीरज ही में धरैबो करै ।
 उर तें कढ़ि आवै, गरे तें फिरै,
 मन ही मनही में सिरैबो करै ।
 कवि बोधा न चाव सरी कबहूँ,
 नित ही हरबा सों हिरैबो करै,
 कहते ही बनै, सहते ही बनै,
 मन ही मन पीर पिरैबो करै ॥

हृदय की यह परवशता घनानन्द में भी अत्यन्त उच्चकोटि की है। प्रियतम

की प्रतीक्षा करते-करते विरहिणी के पलक थक गये हैं तथा प्रियतम का मार्ग नौपते २ नेत्रों की अवस्था भी बिगड़ गई है। हृदय व्याकुलता से भग्न हो चुका है। रात दिन प्रियतम का नाम ही विरहिणी की जिह्वा पर रहता है। विरह की अग्नि में तपकर विरहिणी योग की साधना कर रही है। इस कठिन दशा में प्राणों की अवस्था अत्यन्त ही दयनीय हो गई है। यद्यपि विरहिणी अपने जीवन से निराश हो चुकी है किन्तु फिर भी प्रियतम से मिलने की आशा अत्यधिक बलवती है इसीलिये विरहिणी प्रियतम का नाम पुकार पुकार अपने प्राणों को जीवन दान दे रही है—

जान घन आनन्द यों दुसह दुहेली दसा

बीच परि परि प्रान पिसें चपि चपि रे ।

जीवे तें भई उदास तऊ है मिलन आस

जीवहि जिवाँऊ नाम तेरो जपि जति रे ॥

ठाकुर भी इस प्रकार की उक्तियों के द्वारा अपने हृदय की विवशता को व्यक्त करते हैं—

गति मेरी यही निसिवासर है,

चित तेरी गलीन के गाहने हैं ।

चित कीनो कटोर कहा इतनो,

अब मोहि नहीं यह चाहने है ।

कवि ठाकुर नैंक नहीं दरसो,

कपटीन को काह सराहने हैं ।

मन भावै मुजान सोई करियो,

हमें नेह कौ नातौ निबाहनो है ॥

ठाकुर कवि भी प्रेम के निर्वाह की ओर अधिक ध्यान देते थे। उनको इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं कि उनकी प्रेयसी उनको प्रेम करती है कि नहीं। घनानन्द और बोधा भी इसी प्रवृत्ति को अपना कर चले। घनानन्द की प्रेयसी भी केवल अपने प्रिय को ही चाहती है। उसे संसार से कोई तात्पर्य नहीं। अपने प्रेम के निस्वार्थ रूप की भाँकी घनानन्द ने निम्नलिखित पंक्तियों में किस भावुकता के साथ प्रदर्शित की है—

इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि
 कैसे उराहनो दीजिये जू ।
 अब तौ सब सीस चढ़ाय लई,
 जु कछू मन भाई सु कीजिये जू ।
 धन-आनन्द जीवन प्रान सुजान !
 तिहारियौ बातनि जीजिये जू ।
 नित नीके रहौ तुम्हें चाढ कहा पै
 असीस हमारियौ लीजिये जू ॥

जहाँ तक प्रेम की पीर का प्रश्न है वह इन सभी कवियों में मिलती है और इसी पीर के कारण विद्वानों ने इन कवियों का सम्बन्ध सूक्तियों की प्रेम की पीर से जोड़कर इन प्रेम कवियों पर सूक्तियों का ही प्रभाव कहा है । श्री विश्वनाथ-प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'धन-आनन्द' में अपना मत इस प्रकार प्रदर्शित किया है—
 “प्रेम की पीर सूक्ती कवियों का प्रतिपाद्य विषय है । अतः स्वच्छन्द कवियों ने प्रेम की यह पीर फ़ारसी काव्यधारा की वेदना की विवृत्ति के साथ सूक्ती कवियों से ही ली है । इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता ।” किन्तु इस ‘प्रेम की पीर’ का प्रभाव सभी कवियों पर समान नहीं । धनानन्द के काव्य में यह पीर है किन्तु जहाँ तक सूक्तियों के प्रभाव का प्रश्न है वह सब स्थानों पर नहीं । बात यह थी कि भारतीय साहित्य में विप्रलम्भ शृङ्गार को आदिकाल से ही महत्व मिला और उसके साथ ही हृदय में प्रेम की पीड़ा का होना भी स्वाभाविक था । हिन्दी के कवि विद्यापति की विरहिणी नायिका भी विरह के कारण अनेक वेदनाओं को अपने हृदय में सहेज कर रखती थी । कृष्णभक्त कवियों में नागरीदास आदि कवियों पर तो सूक्तियों का प्रभाव स्पष्ट था किन्तु अन्य कवियों में जो वेदना का रूप पाया जाता है वह शुद्ध भारतीय ही है । हाँ, इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं पर यदि सूक्ती प्रभाव कुछ हो तो यह कोई असंभव भी नहीं । धनानन्द के काव्य में प्रेम की परवशता है वह भारतीय ही अधिक है । केवल कुछ स्थानों पर ही सूक्ती प्रभाव है । इन कवियों में बोधा ही ऐसे कवि थे जिन पर सूक्तियों का प्रभाव अधिक था । प्रेम की पीर भी बोधा में सूक्तियों के अनुकरण पर ही है—

जबतें बिल्लुरे कवि बोधा हितू
तबतें उरदाह थिरातो नहीं ।
हम कौन सों पीर कहें अपनी,
दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं ।

इसके अतिरिक्त कवि बोधा ने माधवानल और कामकंदला की लौकिक कथा को सूफियों के अनुकरण पर ही ग्रहण किया है । इस प्रकार उन्होंने इश्कमजाजी (लौकिक प्रेम) से इश्क हक़ीकी (आध्यात्मिक प्रेम) को प्राप्त करने में सूफी प्रेम-पद्धति को ही अपनाया है ।

ठाकुर कवि पर सूफियों का प्रभाव घनानन्द से भी कम था । यह कवि तो प्रेम का खेल खेलता था और उस प्रेम के खेल में हार जीत का कोई प्रश्न इनके सन्मुख नहीं था । यदि जीत गये तब भी उन्हें इस खेल को खेलना और यदि हार गये तब भी पीछे नहीं हटना । प्रेम की जितनी दृढ़ता ठाकुर में है उतनी किसी भी कवि में नहीं । इनको तो प्रेम करना इसकी चिन्ता नहीं कि इनका प्रेम-पात्र इनको प्रेम करता है या नहीं । इसी दृढ़ता के दर्शन इनके काव्य में अनेक स्थलों पर भरे पड़े हैं—

का करिये तुम्हरे मनको, जिनको
अबलों न मिटो दगा दीबो ।
पै हम दुसरो रूप न देखिहै,
आनन आन को नाम न लीबां ॥
ठाकुर एक सौ भाव हैं जाँ लागि
तौ लागि देह धरे जग जीबो ।
प्यारे, सनेह निबाहिवे काँ हम
तो अपनी सों कियो अरु कीबो ॥

इस प्रेमी कवियों ने विप्रलंभ शृङ्गार को ही अधिक महत्व दिया । संयोग के वर्णन में इनका मन नहीं लगा । वियोग शृङ्गार में घनानन्द ने तो अपनी समस्त भावराशि को ही लुटा दिया है । इसके अतिरिक्त वियोग की अनेकों अवस्थाओं का चित्रण भी घनानन्द के काव्य में उत्कृष्ट कोटि का है ।

इस विषय में घनानन्द के वियोग शृंगार के वर्णन में हम पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं ।

बोधा कवि पर अन्य प्रभाव :—बोधा और ठाकुर के काव्य में भी वियोग शृङ्गार को ही अधिक महत्व दिया गया । कवि बोधा ने तो 'विरह वारीश' नाम से काव्य ही लिख डाला । ठाकुर के काव्य में भी वियोग की दशाओं को बड़े मार्मिक ढंग से दिखाया गया है ।

बोधा कवि ने विरह-वर्णन को भारतीय-पद्धति पर ही वर्णित किया है । किन्तु साथ ही उन्होंने 'इश्क-मजाजी' और 'इश्क हकीकी' का भी उल्लेख कर दिया है जिससे उनके ऊपर सूफियों का प्रभाव भी अपनी धारा के अन्य दोनों कवियों से अधिक प्रतीत होता है—

होय मजाजी में जहाँ, इश्क हकीकी खूब ।

सो साँचा ब्रजराज है, जो भेरा महबूब ॥

बोधा कवि ने लौकिक प्रेम की अनन्यता को ही आध्यात्मिक प्रेम की सीढ़ी कहा है । जो संसार में किसी एक को अपना प्रेम पात्र बनाकर उससे अन्त तक प्रेम का निर्वह कर सकता है वही वास्तविक प्रेमी है और वही अन्त में उस ईश्वर के प्रेम को भी प्राप्त करता है । अपनी प्रेयसी के प्रति उन्होंने इस रहस्य का उद्घाटन इस प्रकार किया है—

‘सुन सुमान यह इश्क मजाजी । जो दृढ़ एक हक्क दिलराजी ॥

पढ़ै पढ़ावै समुझै कोई । मिलै हक्क खामिद को सोई ॥

अपने प्रिय के वियोग में बोधा की विरहिणी-आत्मा उसी प्रकार छुटपटाती है जिस प्रकार घनानन्द की आत्मा सम्पूर्ण 'सुजान चरित' में अपनी वेदना को प्रदर्शित करती है । बोधा कवि के वियोग की अग्नि तनिक भी टंडी नहीं होती । हृदय की पीर को मुनने वाला भी कहीं नहीं दिखलाई देता—

‘जबते बिल्लुरे कवि बोधा हिनू

तबते उर दाह थिरातो नहीं ।

हम कौन सों पीर कहँ अपनी ?

दिलदार तो कौज दिखातो नहीं ।

विरह की इस प्रकार की उक्तियों में ही बोधा पर फ़ारसी काव्य-धारा का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर' ने बोधा आदि के विषय में अपना मत इस प्रकार प्रदर्शित किया है—'रीतिकाल में अग़र घनानन्द को लेकर एक अलग परिवार की कल्पना की जाय तो उनके सबसे अधिक विश्वासी कवि बोधा होंगे तथा इस परिवार में आलम, ठाकुर, रसग्वान और मुबारक का भी नजदीक की जगह मिल जायेगी । बोधा घनानन्द के ही गुटका संस्करण से लगते हैं प्रेम का वही नशा, विरह की वही बेचैनी, भावुकता की वही लहर और निराशा में तड़प कर जान दे देनी की वही चाह । बल्कि जान दे देने का मजमून घनानन्द में बहुत थोड़ा सा है, लेकिन, बोधा इस मजमून के बहुत कायल हैं । बोधा का व्यक्तित्व एक भावुक प्रेमी का व्यक्तित्व है, जिसे प्रेम से निराशा हुई है, जिसके मन की आग मन में ही जल रही है और उसे कहीं भी वह आदमी नहीं मिलता जिसके सामने अपनी वेदना कह कर वह अपने जी को हल्का करे ।'

ठाकुर कवि की विशेषता:—कवि ठाकुर ने गोपियों के द्वारा प्रेम की हृदता को स्पष्ट किया है—

धिक कान जो दूसरी बात सुनें, अब एक ही रङ्ग रहो मिलि डोरो ।

दूसरो नाम कुजात कटैं रसना जो कहै तो हलाहल बोरों ॥

ठाकुर यों कहतीं ब्रजबाल सु ह्याँ बनितान को भाव है भोरो ।

ऊधो जी वे अँगियाँ जरि जायें जो सांवरो छाँडि तकै तन गोरो ॥'

प्रेमभाव की जो स्वाभाविक एवं सरल अभिव्यक्ति ठाकुर में हुई है वह इन अन्य कवियों में नहीं । भावों को इस प्रकार रख दिया है मानो किसी साधारण पढ़े लिखे आदमी के उद्गार हों । लेकिन भावों की सत्यता बरबस ही मन पर अधिकार जमा लेती है । महाकवि घनानन्द में भी भावों की सरल और स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिलती है किन्तु उनका कला-पक्ष अधिक प्रौढ़ होने के कारण कहीं २ उनका काव्य क्लिष्ट भी है जिसे सामान्य लोग समझने में कठिनाई का सामना करते हैं । ठाकुर कवि के भाव अपने सरल रूप की विशेषता के कारण सामान्य-जनता द्वारा भी सुगमता से हृदयंगम किये जा सकते हैं । कवि ठाकुर ने प्रेम के स्वच्छन्द रूप को ही देखा । वह अपने हृदय में जिसे स्थान दे चुके

उसके लिये अपना जीवन देने में भी नहीं चूकते। उनके प्रेम में निर्भीकता, दृढ़ता और पवित्रता का सुन्दर सामंजस्य है। कवि ठाकुर ने अपने काव्य में प्रेम की विशुद्धता पर अनेक स्थल पर जोर दिया है—

वेई नर निर्णय निदान में सराहे जात ।

सुखन अघात प्याला प्रेम को पिये रहें ।

× × × ×

× × × ×

भेंट भये समये असमये, अचाहे चाहे,

ओर लों निवाहैं आखे एक सी किये रहें ॥

रीतिबद्ध परम्परा को जिसमें शब्दाडम्बर को प्रमुखता थी उसे ठाकुर ने बड़े जोरदार शब्दों में हेय कहा है। प्राचीन कवि प्रसिद्धियों के आधार पर काव्य की रचना करना भी उनकी राय में मौलिकता से युक्त नहीं—

सोखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,

सोखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है ।

सोखि लीनो कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामनि,

सोखि लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है ॥

ठाकुर कहत याकी बड़ी है, कठिन बात,

याको नहिं भूलि कहुँ बाँधियत बानो है ।

ढेल सो बनाय आप मेलत सभा के बीच,

लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है ॥

ठाकुर कवि की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इन्होंने केवल प्रेम को ही अपने काव्य में नहीं देखा वरन् बहुत सी लोक व्यवहार की बातों को भी इन्होंने स्थान दिया। ठाकुर कवि की सरल प्रवृत्ति का रूप निम्नलिखित कवित्त से स्पष्ट हो जाता है—

दौलत जो दीजो तो न दीजो कछु सोच फिर,

एतौ वर दीजो मेरौ जनम सुधारियो ।

संग परवीनन को दीनन पै दाया नित

प्रेम में मगन ऐसे दिन जु निवारियो ॥

ठाकुर कहत जो अधीन थयौ रावरे तौ,
 जासों जैसो नातो तासों तैसी ओर पारियो ।
 ऐरे ब्रजराज तेरे पाँव कर जोरे गहों,
 प्रान हू नजर पै न नीयत बिगारियो ॥

शुक्ल जी के शब्दों में ठाकुर की सम्पूर्ण विशेषतायें इस प्रकार हैं—‘ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे । इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं । न तो कहीं शब्दाडंबर है, न कल्पना की भूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष । जैसे भावों को उसी ढङ्ग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा में उतार देता है । बोलचाल की भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है ।’

ठाकुर कवि की कविता में लोक प्रचलित त्योहारों और उत्सवों को भी स्थान दिया गया जिनमें जनता के उत्साह और उल्लास का सुन्दर चित्रण है । इस दृष्टि से यह घनानन्द और बोधा से अपनी एक अलग विशेषता रखते हैं ।

घनानन्द का स्थानः—उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर जिस समय हम घनानन्द के काव्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमको उनका काव्य-पद्ध अत्यन्त प्रौढ़ एवं कला पूर्ण प्रतीत होता है । जहाँ बोधा और ठाकुर ने प्रेम के सच्चे उद्गारों को अपने काव्य में अधिक अपनाया है वहाँ घनानन्द ने लगभग ६०० कवित्त और सवैयाओं को इसी प्रकार के उद्गारों से श्रोत प्रोत कर दिया है । विप्रलम्भ शृङ्गार के तो घनानन्द सच्चे अधिकारी हैं । अनेक दशाश्रों का जैसा मार्मिक चित्रण इनके काव्य में है उस प्रकार बोधा और ठाकुर में नहीं । भावों की सरलता के साथ इस महाकवि ने कला की उच्चता की ओर भी अपना ध्यान रखा है । इनका कला-पद्ध इतना प्रौढ़ एवं विकसित है कि उसके द्वारा इनके भावों की शक्ति अपरमित हो जाती है । जिस स्वाभाविकता एवं सरलता से घनानन्द ने अपने काव्य के भाव-पद्ध एवं कला-पद्ध को पुष्ट किया है उससे सिद्ध है कि घनानन्द निस्संदेह बोधा और ठाकुर से अधिक कला पारखी थे । इस प्रकार के एक नहीं अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे घनानन्द की कला का पुष्ट एवं प्रौढ़ रूप दिखलाया जा सकता है ।

वियोगिनी की दयनीय दशा के चित्रण में कवि ने भावोत्कर्ष के साथ २ कला-पक्ष के सौन्दर्य को भी लोकोक्ति के आधार के द्वारा चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है—

‘सावन आगम हेरि सखी ! मन भावन-आवन चोप विसेखी ।

छाय कहुँ घन-आनन्द जान सम्हारि की ठौर लै भूलनि लेखी ॥

बूदें लगें सब अङ्ग दगैं उलटी गति आपने पापनि पेखी ।

पौन तें जागति आगि मुनी ही पै पानी तें लागित आँखिन देखी ॥

महाकवि घनानन्द की यह विशेषता है कि उनके काव्य में कलापक्ष के उपकरणों को इस स्वाभाविक रूप से व्यवहृत किया है कि उनके द्वारा भाव-सौन्दर्य में कोई कभी नहीं आती वरन् उसमें उत्कर्ष ही आता है कहीं २ पर तो साङ्गरूपक का प्रयोग भी कवि भावातिरेक में ही कर गया है इससे यह प्रतीत नहीं होता कि कवि ने अलङ्कार के लिये कुछ प्रयत्न किया है—

विरहा-रवि सों घट-व्योम तच्यो,

बिजुरी सी खिवें इकली छतियाँ ।

हिय सागर में दृग मेघ भरे,

उघरे बरसैं दिन औ रतियाँ ।

घन-आनन्द जान अनौखी दसा,

न लखों दर्ई कैसे लिखों पतियाँ ।

नित सावन दीठ सु बैठक में

टपकै बरुनी तिहि ओलतिया ॥

इस प्रकार घनानन्द के पूर्ण काव्य पर यदि दृष्टि डाल कर फिर ठाकुर और बोधा के काव्य को आँका जाय तो प्रेम की व्यापकता में ही नहीं वरन् प्रत्येक क्षेत्र में वह उसी प्रकार प्रतीत होगा जैसे सूर के काव्य के सम्मुख अष्ट-छाप के अन्य कवि । घनानन्द ने प्रेम की अनेकों अवस्थाओं, विप्रलम्भ शृङ्गार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं, प्रकृति के अनेकों प्रकारों तथा काव्य की प्रौढ़ता को देखकर निस्संदेहात्मक रूप से उनको महाकवि का स्थान देना परमावश्यक है तथा बोधा और ठाकुर इस दृष्टि से उतने सफल कलाकार नहीं ।

